Sāgāra Dharmāmṛita with the commentary Vijayā - Uttarārddha (Chapters 5-8) by Pt. Āśādhra - Edited and translated by Mohanlāl Jain Sāstrī Kāvyatīrtha. 2/e, Jabalpur, 2484 Jain era.

Bill No. 2 / 07-08

114

2008-0127

* श्री पण्डितप्रवर आशाधर विरचित *

सागारधर्मामृत

(विजया-टीका-सहित)

अनुवादक

बरायठा (सागर) निवासी

मोहनलाल जैन शास्त्री काव्यतीर्थ,

पुरानी चरहाई, जबलपुर।

प्रकाशक

सरल जैन ग्रन्थ भण्डार

पुरानी चरहाई, जबलपुर।

द्वितीयवार १००० } वीर नि० सं० २४८४ श्रुतपञ्चमी

* शुद्धि-पत्र *

अध्याय ५, पद्य २५, २६

देशावकाशिक व्रत का निरुक्तिपूर्वक लक्षण

दिग्व्रतपरिमितदेश-विभागे ऽवस्थानमस्ति मितसमयम् ।
यत्र निराहुर्देशा – वकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥२५॥

अन्वयार्थौ—(यत्र) जिस व्रत में (दिग्व्रतपरिमितदेश विभागे) दिग्व्रत में सीमित क्षेत्र के किसी अंश में (मितसमयम्) किसी नियमित समय तक (अवस्थानम्) रहना (अस्ति) होता है । (तद्व्रतम्) उस व्रत को (तज्ज्ञाः) उस व्रत की निरुक्ति के जानकार व्यक्ति (देशावकाशिकम्) देशावकाशिक व्रत (निराहुः) कहते हैं ॥ २५ ॥

देशावकाशिक व्रतपालक का स्वरूप

स्थास्यामीदमिदं याव - दियत्काल - मिहास्पदे ।
इति संकल्प्य सन्तुष्ट - स्तिष्ठन्देशावकाशिकी ॥२६॥

अन्वयार्थौ—(इदं इदं यावत्) घर, पर्वत तथा ग्राम वगैरह निश्चित स्थान तक की मर्यादा करके (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट [सन्] होता हुआ (इह) इस (आस्पदे) स्थान में [अहम्] मैं (इयत्) इतने (कालम्) समय तक (स्थास्यामि) निवास करूँगा (इति) इस प्रकार से (सङ्कल्प्य) संकल्य या नियम करके (तिष्ठन्) स्थित रहने वाला [श्रावकः] श्रावक (देशावकाशिकी) देशावकाशिक [भवति] कहलाता है ॥ २६ ॥

नमः श्रीवर्धमानाय ।

पंडितप्रवर आशाधर-विरचित

सागारधर्मामृतं

पञ्चम अध्याय

गुणव्रत का लक्षण

यद्‍गुणायोपकाराया-णुव्रतानां व्रतानि तत् ।
गुणव्रतानि त्रीण्याहु-र्दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥१॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जिस कारण से (दिग्विरत्यादिकानि) दिग्व्रत आदिक (त्रीणि) तीनों (अपि) ही (व्रतानि) व्रत (अणुव्रतानाम्) अणुव्रतों के (गुणाय) उत्कर्ष के लिये [च] तथा (उपकाराय) उपकार के लिये [भवन्ति] होते हैं (तत्) तिस कारण से [आचार्याः] आचार्य (तानि] उन दिग्व्रत आदिक को (गुणव्रतानि) गुणव्रत (आहुः) कहते हैं ॥१॥

भावार्थ--दिग्व्रत आदिक से अणुव्रतों की रक्षा और विशुद्धि होती है तथा चरित्रगुण का विकाश होता है और जैसे बाड़ से खेतकी रक्षा होती है उसी प्रकार सात शीलों से अणुव्रतों की रक्षा होती है। इसलिये इन विशेष गुणों के आधायक व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत के तीन भेद हैं। दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत ॥१॥

विशेषार्थ:--बिना शीलों के अणुव्रत, अणुव्रतरूप में नहीं रह सकते। जैसे कि दिग्व्रत के पालन से क्षेत्रविशेष की अपेक्षा

सर्व पापों के त्याग का लाभ होता जाता है। तथा अनर्थदण्डव्रत के पालन से निरर्थक पापों के त्याग का लाभ होता है और भोगोपभोग की मर्यादा में भी योग्य भोगोपभोग के अतिरिक्त सर्व पापों का त्याग होता है। इसलिये अणुव्रतों में विशेष गुण सम्पन्न होते हैं।

दिग्व्रत का लक्षण

यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः, कृत्वा दिक्षु दशस्वपि।
नात्येत्यणुव्रती सीमां, तत्स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम् ॥२॥

अन्वयार्थौ—(अणुव्रती) अणुव्रतों का पालक (यत्) जो (प्रसिद्धैः) प्रसिद्ध प्रसिद्ध (अभिज्ञानैः) चिह्नों से (दशसु) दशों (अपि) ही (दिक्षु) दिशाओं में (सीमाम्) सीमा को (कृत्वा) करके (न अत्येति) उल्लंघन नहीं करता है (तत्) वह (दिग्विरतिः) दिग्व्रत नामक (व्रतम्) व्रत (स्यात्) कहलाता है ॥२॥

भावार्थ--लोभ वा आरम्भ घटाने के लिये किन्हीं किन्हीं प्रसिद्ध प्रसिद्ध चिह्नों तक दशों दिशाओं में आने जाने की मर्यादा (सीमा) कर लेना और उसका उल्लंघन नहीं करना दिग्व्रत कहलाता है। यह दिग्व्रत अणुव्रती के होता है ॥२॥

विशेषार्थ--इस श्लोक में प्रदत्त 'अणुव्रती' पद से यह सूचित होता है कि-दिग्व्रत अणुव्रती के ही होता है, महाव्रती के नहीं। क्योंकि महाव्रती के सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग होता है और वह ईर्यासमिति पालते हुये विहार करता है। इसलिये उसको दिग्व्रत नामक व्रत की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु अणुव्रती को दिशाओं की मर्यादा के भीतर ही आरम्भ करना पड़ता है और दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर उसके सम्पूर्ण आरम्भ का त्याग रहता है।

'दशस्वपि' पद में दिये हुए 'अपि' शब्द से यह भाव प्रगट होता है कि--जैसे दशों दिशाओं में आवागमन की मर्यादा करना दिग्व्रत कहलाता है, वैसे ही १, २ वा ३ आदि दिशाओं की मर्यादा करना भी दिग्व्रत कहलाता है ॥२॥

दिग्व्रती के महाव्रती पना

दिग्विरत्या बहिः सीम्नः, सर्वपापनिवर्तनात् ।
तप्तायोगोलकल्पोऽपि, जायते यतिवद् गृही ॥३॥

अन्वयार्थौ—(दिग्विरत्याः) दिग्व्रत की (सीम्नः) मर्यादा के (बहिः) बाहर (सर्वपापनिवर्तनात्) सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति हो जाने से (तप्तायोगोलकल्पः) तपे हुए लोहे के गोले की तरह गमन, भोजन और शयन आदि सम्पूर्ण क्रियाओं में जीवों की हिंसा करने वाला (अपि) भी (गृही) गृहस्थ (यतिवत्) मुनि की तरह (जायते) होता है ॥३॥

भावार्थः--जैसे तपा हुआ लाल लोहे का गोला यदि पानी में डाला जावे तो वह चारों तरफ से पानी को खींचता है, वैसे ही आरम्भ परिग्रह जनित कषायरूपी अग्नि के कारण भाव विकारों में तपा हुआ गृहस्थ का आत्मा चारों ओर से कार्मण-वर्गणाओं को खींचता है। परन्तु अणुव्रती का आत्मा दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर सर्व आरम्भ, परिग्रह और भोगोपभोगजनित पापों का त्याग होने से यति के समान पापों से बचता है।

तात्पर्य यह है कि दिग्व्रत के पालन से विवक्षित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र में महाव्रत का अभ्यास होजाता है। अतः अणुव्रती दिग्व्रत की मर्यादाके बाहर महाव्रती के समान कहा जाता है ॥३॥

दिग्व्रती के महाव्रतीपन के कारण

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्न-कषायोदयमान्द्यतः ।
महाव्रतायतेऽलक्ष्य-मोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—(दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमान्द्यतः) दिग्व्रत के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने तथा व्रतों के घातक कषाय के उदय के मन्द पने से (अलक्ष्यमोहे) विदित नहीं होता है मोह का अस्तित्व जिसका ऐसे (गेहिनि) गृहस्थ में (अणुव्रतम्) अणुव्रत (महाव्रतायते) महाव्रतके समान आचरण करता है ॥४॥

भावार्थ--दिग्व्रत के व्रत की प्रतिज्ञा से सकल संयम के घातक प्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उत्कृष्ट रीति से मंदता हो जाती है। इसलिये अणुव्रती का प्रत्याख्यानावरणजनित चरित्र-मोह का उदय अतिशय मन्दता के कारण किसी के लक्ष्य में नहीं आता इसलिये दिग्व्रत का पालक अणुव्रती दिग्व्रत की मर्यादा के बाहर महाव्रती कहा जाता है ॥४॥

विशेषार्थः—सारांश यह है कि-दिग्व्रतधारी के मर्यादा के बाहर सब प्रकार के आरम्भ, परिग्रह, भोग और उपभोग नहीं होते इसलिये वह वहां पर महाव्रती के समान है। जब तक सकलसंयम के घातक प्रत्याख्यानावरण की मन्दता नहीं होती तब तक दिग्व्रतनामक व्रत की सम्भावना नहीं होती ॥४॥

दिग्व्रत के अतिचार

सीमविस्मृतिरूर्ध्वाध – स्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः ।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा, क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥५॥

अन्वयार्थौ—(अज्ञानतः) अज्ञान से (वा) अथवा (प्रमादात्) प्रमाद से (सीमविस्मृतिः) नियमित मर्यादा का भूल जाना (ऊर्ध्वाध-स्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः) ऊपर, नीचे तथा तिरछी मर्यादा का उल्लंघन करना (च) और (क्षेत्रवृद्धिः)मर्यादित क्षेत्र से अधिक क्षेत्रका बढ़ा लेना [इति] ये पांच (तन्मलाः) दिग्व्रत के अतिचार [सन्ति] हैं ॥५॥

भावार्थः—सीमविस्मृति, ऊर्ध्वभागातिक्रम, अधोभागातिक्रम, तिर्यग्भागातिक्रम और क्षेत्रवृद्धि ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं ॥५॥

सीमविस्मृति—किसी ने सौ योजन की मर्यादा की। जब जाने का समय आया तब अज्ञान अथवा प्रमाद से भूल जाना। यह विचार करना कि – नहीं मालूम १०० योजन की प्रतिज्ञा की थी या ५० योजन की? ऐसी हालत में यदि वह ५० योजन के भीतर ही गमन करता है तो उसका व्रत निर्दोष है, ५० योजन से बाहर जाता है तो अतिचार सहित है और १०० योजन से बाहर जाता है तो अनाचार है। क्योंकि ५० योजन के भीतर जाने वाले ने व्रत का पूरा पालन किया है। और उससे अधिक बाहर जाने वाले ने संशय के कारण एकदेश भंग किया है तथा १०० योजन के बाहर गमन करने वाले ने पूरा व्रत भंग किया है।

ऊर्ध्वभागातिक्रम, अधोभागातिक्रम, तिर्यग्भागातिक्रम—मर्यादा करते समय अपनी सीमा सम्बन्धी ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और तिर्यग्भाग की जो प्रतिज्ञा की जाती है; उस सीमा का अज्ञान वा प्रमाद से उल्लंघन करना ऊर्ध्वभागातिक्रम आदि अतिचार हैं। किन्तु बुद्धिपूर्वक साक्षात् इन भागों की सीमा का उल्लंघन करना तो अनाचार ही है।

क्षेत्रवृद्धि—किसी व्रती ने चारों दिशाओं में १०० योजन तक जाने की मर्यादा की है परन्तु समय बीतने पर जिस ओर उसे अधिक जाना है उस ओर १०० योजन से भी अधिक चला जाता है और उसके विरुद्ध दिशाओं में उतना ही कम जाने का विचार करता है तो उसका यह क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है। क्योंकि उसने एक तरफ की मर्यादा कम करके दूसरी ओर की उतनी ही मर्यादा बढ़ा ली है ॥५॥

विशेषार्थः—बुद्धि के क्षयोपशम की मन्दता से जिसे सीमा की प्रतिज्ञा का स्मरण नहीं रहता उसके अज्ञान से दिग्व्रत के अतिचार होते हैं और बुद्धि की मन्दता न होने पर भी नानाप्रकार के विचारों में निमग्नता से प्रतिज्ञा का स्मरण नहीं रखने से प्रमाद या असावधानता के कारण से पांचों अतिचार होते हैं।

अनर्थदण्डव्रत का लक्षण

पीडा पापोपदेशाद्यै–र्देहाद्यर्थाद्विनाङ्गिनाम् ।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागो ऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥६॥

अन्वयार्थौ—(देहाद्यर्थात् बिना) अपने तथा अपने कुटुम्बी जनों के शरीर, वचन तथा मन सम्बन्धी प्रयोजन के बिना (पापोपदेशाद्यैः) पापोपदेशादिक के द्वारा (अङ्गिनाम्) प्राणियों को (पीडा) पीडा देना (अनर्थदण्डः) अनर्थदण्ड [कथ्यते] कहलाता है [च] और (तत्त्यागः) उस अनर्थदण्ड का त्याग (अनर्थदण्डव्रतम्) अनर्थदण्डव्रत (मतम्) माना गया है ॥६॥

भाषार्थः—जिससे अपने व अपने से सम्बद्ध कुटुम्बी जन आदि का मन, वचन और काय सम्बन्धी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ऐसे पापोपदेशादिक द्वारा प्राणियों को पीड़ा पहुँचाना अनर्थदण्ड कहलाता है। तथा अनर्थदण्ड का त्याग अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पांच अनर्थदण्ड के भेद हैं ॥६॥

पापोपदेश का लक्षण और उसके त्याग का उपदेश

पापोपदेशो यद्वाक्यं, हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् ।
तज्जीविभ्यो न तं दद्या–न्नापि गोष्ठ्यां प्रसञ्जयेत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—(हिंसाकृष्यादिसंश्रयम्) हिंसा, खेती और व्यापार आदि को विषय करने वाला (यत्) जो (वाक्यम्) वचन [स्यात्] होता

है (तत्) वह (पापोपदेशः) पापोपदेश [कथ्यते] कहलाता है (तत्) इसलिये अनर्थदण्डव्रतार्थी] अनर्थदण्डव्रत का इच्छुक श्रावक (तज्जीविभ्यः) हिंसा, खेती और व्यापार आदिक से आजीविका करने वाले, व्याध, ठग और चोर वगैरह के लिये (तम्) उस पापोपदेश को (न दद्यात्) नहीं देवे (अपि) और (गोष्ठ्याम्) कथा वार्तालाप वगैरह में (तम्) उस पापोपदेश को (न प्रसञ्जयेत्) प्रसङ्ग नहीं लावे ॥७॥

भावार्थः—जिन वाक्यों का हिंसादिक पाप तथा खेती और व्यापार आदिक से सम्बन्ध जुड़ सकता हो उन वाक्यों द्वारा हिंसा, खेती और व्यापार आदिक द्वारा आजीविका करने वालों को उपदेश देना पापोपदेश कहलाता है। ऐसा पापोपदेश नहीं देना चाहिये और गोष्ठी में भी उसका प्रसङ्ग नहीं लाना चाहिये। जैसे व्याधों की सभा में यह कहना कि क्यों बैठे हो "आज जलाशय के किनारे बहुत से पक्षी आये हैं" इस वाक्य को सुनकर कोई व्याध उनके वध का उपाय सोच सकता है। इसलिये यह वाक्य पापोपदेश की कोटि में चला जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी जानना ॥७॥

विशेषार्थः—'हिंसाकृष्यादिसंश्रयम्' की जगह 'हिंसाकृष्याद्यारम्भम्' ऐसा भी पाठ है। जिसका अर्थ यह होता है कि 'हिंसादिक और खेती आदिक आरम्भ की जिसमें प्रधानता है ऐसे वाक्यों का नाम भी पापोपदेश है ॥७॥

हिंसादान का लक्षण वा निषेध

हिंसादानं विषास्त्रादि–हिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत् ।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि, दाक्षिण्याविषये ऽर्पयेत् ॥८॥

अन्वयार्थौं—(विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनम्) विष और हथियार आदि हिंसा के कारण भूत पदार्थों का देना (हिंसादानम्) हिंसादान

नामक अनर्थदण्ड [कथ्यते] कहलाता है (तत्) उस हिंसादान अनर्थदण्ड को (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिये (च) और (दाक्षिण्याविषये) जिनसे अपना व्यवहार नहीं है ऐसे पुरुषों से भिन्न पुरुषों के विषय में (पाकाद्यर्थम्) पाकादिक के लिये (अग्न्यादि) अग्नि वगैरह (न अर्पयेत्)नहीं देवे।

भावार्थ—विष, हथियार, हल गाड़ी, कुसिया, कुदारी और कुल्हाड़ी आदि वस्तुओं से हिंसा सम्भव है इसलिये इनके दान को हिंसादान कहते हैं। तथा जिनके साथ अपना व्यवहार नहीं है ऐसे अपरिचित किसी व्यक्ति को भोजन पकाने के लिये अग्नि, कूटने को मूसल आदि का देना भी निष्प्रयोजन होने से हिंसादान है। अनर्थदण्डत्यागी श्रावक को इन दोनों प्रकार के हिंसादान का त्याग कर देना चाहिये ॥८॥

दुःश्रुति वा अपध्यान का लक्षण वा निषेध

चित्तकालुष्यकृत्काम–हिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्।
न दुःश्रुतिमपध्यानं, नार्तरौद्रात्म चान्वियात् ॥९॥

अन्वयार्थौ—अनर्थदण्डव्रत का इच्छुक श्रावक (चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्) चित्त में कलुषता करने वाला जो काम तथा हिंसा आदिक हैं तात्पर्य जिनके ऐसे शास्त्रों के श्रवणरूप (दुःश्रुतिम्) दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड को (न अन्वियात्) नहीं करे (च) और (आर्तरौद्रात्म) आर्त तथा रौद्रध्यान स्वरूप (अपध्यानम्) अपध्यान नामक अनर्थदण्ड को (न अन्वियात्) नहीं करे ॥९॥

भावार्थ—जिन शास्त्रों में काम और हिंसा आदि रूप अर्थों का कथन है उनके सुनने को दुःश्रुति-नामक अनर्थदण्ड कहते हैं। तथा आर्त और रौद्र ध्यान को अपध्यान अनर्थदण्ड कहते हैं। अनर्थदण्डव्रती को इन दोनों का परित्याग कर देना चाहिये ॥९॥

विशेषार्थ—काम और हिंसा रूप अर्थों का जिन शास्त्रों में कथन है उन शास्त्रों को कामहिंसाद्यर्थश्रुत कहते हैं ऐसे शास्त्र मोक्षमार्ग के साधक नहीं हैं, किन्तु रागद्वेषवर्धक होते हैं इसलिये उनका सुनना अनर्थदण्ड है।

वात्स्यायनसूत्र कामशास्त्र है। लटकादि अभिमत हिंसा शास्त्र हैं। वार्तानीति आरम्भपरिग्रह शास्त्र हैं। वीरकथा साहस-शास्त्र हैं। ब्रह्माद्वैतादि मिथ्यात्वशास्त्र हैं। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' इत्यादि बातों के प्रतिपादक शास्त्र मदशास्त्र हैं। वशीकरणादि तंत्र रागशास्त्र हैं। ये शास्त्र रागद्वेष से युक्त होने के कारण चित्त में कलुषता पैदा करते हैं इसलिए इनका सुनना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है।

किसी प्रकार के यातना और दुःख के समय पर जो चित्त की एकाग्रता होती है उसे आर्तध्यान कहते हैं। और पर के रोध करने से जो ध्यान होता है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं।

" न दुःश्रुतिमपध्यानमार्तरौद्रात्म चान्वियात् " ऐसा भी पाठ है इसका अर्थ यह भी होता है कि मैं नरेन्द्र होकर रानियों का, विद्याधर होकर विद्याधरियों का भोग करूंगा, वैरियों का नाश करूंगा ऐसे आर्त और रौद्र ध्यान का भी चिन्तवन नहीं करना चाहिये ॥९॥

प्रमादचर्या का लक्षण

प्रमादचर्यां विफलक्ष्मा – निलाग्न्यम्बुभूरुहाम् ।
खातव्याघातविध्याप – सेकच्छेदादि नाचरेत् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—अनर्थदण्ड का त्यागी (विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम् खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि) निष्प्रयोजन पृथ्वी के खोदने, वायु के रोकने, अग्नि के बुझाने, जल के फेकने तथा वनस्पति के छेदने आदि रूप (प्रमादचर्याम्) प्रमादचर्या को (न आचरेत्) नहीं करे ॥१०॥

भावार्थ—निष्प्रयोजन-भूमि खोदना, वायु रोकना, अग्नि बुझाना, जल फेंकना या सींचना और वनस्पति का छेदना, प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहा जाता है। इसका भी परित्याग करना चाहिये ॥१०॥

प्रमादचर्या का स्पष्टीकरण

तद्वच्च न सरेद् व्यर्थं न परं सारयेन्महीम्।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्, मार्जारशुनकादिकान् ॥११॥

अन्वयार्थौ—(च) और (तद्वत्) निष्प्रयोजन पृथ्वी खोदने आदि की तरह (व्यर्थम्) बिना प्रयोजन (महीम्) पृथ्वी पर (न सरेत्) स्वयं नहीं घूमे (परम्) दूसरों को [अपि] भी (न सारयेत्) नहीं घुमावे (च) तथा (मार्जारशुनकादिकान्) बिल्ली कुत्ता आदि (जीवघ्न-जीवान्) जीवों के घातक जीवों को (न स्वीकुर्यात्) नहीं पाले ॥११॥

भावार्थ—निष्प्रयोजन पृथ्वी पर स्वयं घूमना और नोकर आदि को घुमाना तथा आवश्यकता होने पर भी हिंसक कुत्ता, बिल्ली, नेवला और मुर्गा आदि का पालना भी प्रमादचर्या की कोटि में आता है। इसलिये इस व्रती को इनका भी परित्याग करना चाहिये ॥११॥

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

मुञ्चेत्कन्दर्पकौत्कुच्य – मौखर्याणि तदत्ययान्।
असमीक्ष्याधिकरणं, सेव्यार्थाधिकतामपि ॥१२॥

अन्वयार्थौ—अनर्थदण्ड का त्यागी श्रावक (कन्दर्पकौत्कुच्य-मौखर्याणि) कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य (असमीक्ष्याधिकरणम्) असमीक्ष्याधिकरण (अपि) और (सेव्यार्थाधिकताम्) सेव्यार्थाधिकता [इति] इन (तदत्ययान्) अनर्थदण्डव्रत के पांच अतिचारों को (मुञ्चेत्) छोड़े ॥१२॥

भाषार्थ—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिकता ये पांच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं। इस व्रती को इनका परित्याग करना चाहिये ॥१२॥

कन्दर्प—काम या राग के उद्वेग से प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प कहलाता है।

कौत्कुच्य—हास्य और भंडवचन सहित भोंह, नेत्र, नाक, ओंठ, मुख, पैर और हाथ आदि की संकोचादि क्रिया द्वारा कुचेष्टा करने को कौत्कुच्य कहते हैं।

मौखर्य—धृष्टतापूर्वक विचार-रहित असत्य और असंबद्ध बहुत बोलने को मौखर्य कहते हैं।

असमीक्ष्याधिकरण—अपने प्रयोजन का विचार नहीं करके प्रयोजन से अधिक कार्य का करना कराना असमीयाक्ष्याधिकरण कहलाता है। जैसे किसी से कहना कि तूं बहुत सी चटाइयाँ लाना, हमें जितनी लगेंगी हम ले लेवेंगे और भी बहुत से खरीददार हैं वे भी ले लेवेंगे, हम बिकवा देवेंगे। इस प्रकार चटाई बनाने वालों को अपने प्रयोजन के बिना अधिक कार्य कराना, और बेचने वालों को बहुत आरम्भ में लगाना। इसी प्रकार से बढ़ई और ईंटा पकाने वालों आदि से कहना असमीक्ष्याधिकरण नाम का चौथा अतिचार है।

अथवा हिंसा के उपकरणों को उनके साथी दूसरे उपकरणों के पास रखना। जैसे उखली के पास मूसल, हल के पास फाल, गाड़ी के पास जुआँ और धनुष के साथ बाणों को रखना भी असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार है। क्योंकि ऐसा करने से इन चीजों को आरम्भादि कार्य के लिए हर एक व्यक्ति सुलभता से ले सकता है। तथा देने के लिए निषेध भी नहीं किया जा सकता।

सेव्यार्थधिकता—जितने भोग व उपभोग के साधनों से अपना प्रयोजन सधता है उससे अधिक साधन सामग्री के जुटाने को सेव्यार्थाधिकता कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि नहाने के लिये जलाशय को जाते समय बहुतसा तेल, उबटन और आँवला आदि लेकर जाओगे तो इनके लोभ अथवा सुभीते से बहुत से मित्रगण भी अनायास साथ हो लेवेंगे और ऐसी स्थिति में जलाशय के और वायुकाय के जीवों की विराधना की अधिक सम्भावना है अतः यह भी सेव्यार्थाधिकता नामक अनर्थदण्डव्रत का अतिचार है। इसलिए घर पर ही नहाना चाहिए अथवा तेल वगैरह घर पर ही लगाकर तालाब पर जाना चाहिए और किनारे पर बैठकर छने पानी से, लोटा से तथा अंजुलियों से नहा लेना चाहिए।

जिन जिन क्रियाओं में वनस्पति काय के फूल और पत्तों का संसर्ग जाता है उन सब से भी बचना चाहिए। नहीं तो यह भी अनर्थदण्डव्रत का छटवां अतिचार हो जाता है।

इनमें से कन्दर्प और कौत्कुच्य प्रमादचर्या अनर्थदण्ड के अतिचार हैं। मौखर्य पापोपदेश का अतिचार है। असमीक्ष्याधिकरण हिंसादान का अतिचार है और सेव्यार्थाधिकता प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डव्रत का अतिचार है ॥१२॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रत का लक्षण

भोगोऽयमियान् सेव्यः, समयमियन्तं मयोपभोगोऽपि।
इति परिमायानिच्छँ–स्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥१३॥

अन्वयार्थौ—(अयम्) यह (भोगः) भोग (अपि) और (इयान्) इतना (उपभोगः) उपभोग (इयन्तम्) इतने (समयम्) समय तक [मया] मेरे द्वारा (सेव्यः) सेवन करने योग्य है [वा] अथवा (अयम्)

यह (भोगः) भोग (अपि) और (उपभोगः) उपभोग (इयान्) इतना, तथा (इयन्तं समयम्) इतने समय तक [मया] मेरे द्वारा (न सेव्यः) सेवन करने योग्य नहीं है (इति) इस प्रकार (परिमाय) परिमाण करके (अधिकौ) प्रतिज्ञा से अतिरिक्त (तौ) उन भोग और उपभोग को (अनिच्छन्) नहीं चाहने वाला [गुणव्रती] गुणव्रती श्रावक (तत्प्रमाव्रतम्) भोगोपभोगपरिमाणव्रत को (श्रयतु) स्वीकार करे ॥१३॥

भाषार्थ—यह भोग अथवा उपभोग मेरे द्वारा इतना और इतने समय तक सेवन किया जावेगा अथवा यह भोग और उपभोग इतना तथा इतने समय तक मेरे द्वारा त्याज्य है इस प्रकार से भोग और उपभोग के विषय में परिमाण करके उससे अधिक की इच्छा नहीं करना गुणव्रत पालक का भोगोपभोग परिमाण व्रत है ॥१३॥

विशेषार्थ—भोग और उपभोग की मर्यादा विधिमुख और और निषेधमुख से की जाती है। जैसे मैं चार मालाएँ दश दिन तक पहनूंगा, पान के १० बीड़े १० दिन तक खाऊंगा, अथवा माला और ताम्बूल दश दिन तक नहीं पहनूंगा और नहीं खाऊँगा। इतने वस्त्र और अलंकार वगैरह उपभोग योग्य पदार्थ इतने काल तक ही सेवन करूंगा। इस प्रकार विधि और निषेध दोनों ही रीतियों से भोग और उपभोग योग्य पदार्थों की मर्यादा की जाती है। मर्यादा के काल के भीतर उन त्यागे हुये भोगोपभोग की इच्छा नहीं करने वाले के भोगोपभोग परिमाणव्रत होता है ॥१३॥

भोग, उपभोग, यम और नियम का लक्षण

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुनः पुनः स्रगम्बरवत् ।
तत्परिहारः परिमित-कालो नियमो यमश्च कालान्तः ॥१४

अन्वयार्थौ—[यः] जो (स्रग्वत्) माला और ताम्बूल आदि की तरह (सकृत्) एकवार (सेव्यः) सेवनीय होता है [सः] वह (भोगः)

भोग (तु) और [यः] जो (अम्बरवत्) वस्त्राभूषणादिक की तरह (पुनः पुनः) वार वार (सेव्यः) सेवनीय होता है [सः] वह (उपभोगः) उपभोग [कथ्यते] कहलाता है। तथा (परिमितकालः) किसी नियमित काल तक के लिये कृत (तत्परिहारः) भोगोपभोग का त्याग (नियमः) नियम (च) और (कालान्तः) जीवनपर्यन्त के लिये कृत (तत्परिहारः) उस भोगोपभोग का त्याग (यमः) यम [कथ्यते] कहलाता है ॥१४॥

भावार्थ—जो पदार्थ एकवार भोगने के बाद फिर भोगने योग्य नहीं रहता वह भोग कहलाता है। जैसे माला, गन्ध और भोजन वगैरह। तथा जो पदार्थ वारवार भोगने में आता है वह उपभोग कहलाता है। जैसे-वस्त्र और आभूषण वगैरह।

जो त्याग घड़ी आदि नियत समय की मर्यादा लेकर किया जाता है वह त्याग नियम कहलाता है और जो त्याग जीवन पर्यन्त के लिये किया जाता है वह त्याग यम कहलाता है ॥१४॥

त्रसघात, बहुस्थावरघात, प्रमादविषय, अनिष्ट और अनुपसेव्य के त्याग का भोगोपभोगपरिमाणव्रत में अन्तर्भाव

पलमधुमद्यवदखिल — स्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥ १५॥

अन्वयार्थौ—[भोगपभोगपरिसंख्यानव्रतिना] भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पालक श्रावक के द्वारा (पलमधुमद्यवत्) मांस, मधु तथा मदिरा की तरह (त्रसबहुघातप्रमादविषयः) त्रसघात बहुस्थावरघात और प्रमाद विषयिक तथा (अन्यथा) त्रसघातादिक को विषय करने वाले नहीं हो कर के भी (अनिष्टः) अनिष्टः (च) और [इष्टः] इष्ट [सन्] होता हुआ (अपि) भी (अनुपसेव्यः) अनुपसेव्य (अखिलः) भोग तथा उपभोग करने के योग्य सम्पूर्ण (अर्थः) पदार्थ (त्याज्यः) त्याग दिया जाना चाहिये (हि) क्योंकि (व्रतात्) व्रत से (इष्टम्) स्वर्गादिक इष्ट (फलम्) फल [भवति] होता है ॥१५॥

भाषार्थ—भोगोपभोग की मर्यादा के समय व्रती के द्वारा त्रसघात, बहुस्थावरघात, प्रमादजनक, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थों के खाने का मांस, मधु और मदिरा के समान त्याग किया जाना चाहिये। क्योंकि व्रत से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ—जिनमें बहुत से सम्मूर्छन जीव उड़ कर बैठते है, जिनमें जीवों के रहने के लिये बहुत जगह होती है इस प्रकार कमलनाल आदि त्रसघातविषयिक पदार्थ हैं। और इसी प्रकार केतकी के फूल, सहजने के फूल, अरणि के फूल तथा बेलफल आदि बहुजन्तुओं के स्थान हैं। ये सब त्रसघातविषयिक पदार्थ हैं।

जिन पदार्थों के सेवन से मधु के सामान तदाश्रित बहुत से जीवों की हिंसा होती है तथा जिन कन्दमूल आदिक के भक्षण से अनन्त स्थावरों की हिंसा होती है वे सभी पदार्थ बहुस्थावरहिंसाकारक हैं। जैसे गुरवेल, अदरक, आलू और शकरकन्द इत्यादि।

जिन पदार्थों के सेवन से मद्य के समान बेसुधी (प्रमाद) उत्पन्न होती है उन्हें प्रमाद-जनक पदार्थ कहते हैं। जैसे भांग, धतूरा, अफीम और गांजा इत्यादि।

जिस के सेवन के त्रसघात, बहुघात और प्रमाद वगैरह कुछ नहीं होता परन्तु जो अपने को या अपने स्वास्थ्य को अनिष्ट होता है अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुकूल नहीं होता उसे अनिष्ट कहते हैं। जैसे खांसी के रोग वाले को बरफी इत्यादि।

जो भले पुरुषों के सेवन करने योग्य नहीं होता उसे अनुपसेव्य कहते हैं। जैसे लार, मूत्र आदि पदार्थों का सेवन, चित्र विचित्र वस्त्र परिधारण करना और विकृत वेष-भूषा करना।

प्रसंगवश इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि क्रूरता-जनक व्यापार भी नहीं करना चाहिये ॥१५॥

अल्पफल और हानिबाहुल्य कारक पदार्थों के
सेवन का निषेध

नालीसूरणकालिन्द-द्रोणपुष्पादि वर्जयेत् ।
आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—[धर्मार्थी] धार्मिकश्रावक (नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि) नाली, सूरण, कालींदा और द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थों को (आजन्म) जीवन पर्यन्त के लिये (वर्जयेत्) छोड़ देवे (हि) क्योंकि (तद्भुजाम्) इन नाली और सूरण वगैरह खाने वालों के [तद्भक्षणे] उन पदार्थों के खाने में (फलम्) फल (अल्पम्) थोड़ा (च) और (घातः) घात (भूयसाम्) बहुत से जीवों का [स्यात्] होता है ॥१६॥

भाषार्थ—नाली (पोली भाजी) सूरण, तरबूज, द्रोणपुष्प, मूली, अदरख, नीम के फूल, केतकी के फूल आदि के खाने में जिह्वास्वाद रूप सुख तो थोड़ा होता है किन्तु घात बहुत से एकेन्द्रिय प्राणियों का होता है । इसलिये धार्मिक को इनके भक्षण का त्याग करना चाहिये ॥१६॥

साधारण वनस्पति के भक्षण का निषेध

अनन्तकायाः सर्वेऽपि, सदा हेया दयापरैः ।
यदेकमपि तं हन्तुं, प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—(दयापरैः) दयालु श्रावकों के द्वारा (सदा) सर्वदा के लिये (सर्वे) सब (अपि) ही (अनन्तकायाः) साधारण वनस्पति (हेयाः) त्याग दी जाना चाहिये (यत्) क्योंकि (एकम्) एक (अपि) भी (तम्) उस साधारण वनस्पति को (हन्तुम्) मारने के लिये (प्रवृत्तः) प्रवृत्त व्यक्ति (अनन्तकान्) अनन्तजीवों को (हन्ति) मारता है ॥१७॥

भाषार्थ—धर्म दयाप्रधान है । इसलिये दयालु होकर अनन्त कायवाली साधारण वनस्पति के भक्षण का त्याग सदैव के लिये

कर देना चाहिये । क्योंकि भक्षण द्वारा एक साधारण वनस्पति के जीव को मारने के लिये प्रवृत्त व्यक्ति उसमें रहने वाले † अनन्त जीवों की हिंसा का भागी होता है ॥१७॥

विशेषार्थ—जिस वनस्पति के शरीर में अनन्त साधारण वनस्पति प्राणी रहते हैं उसको अनन्तकाय कहते हैं । अनन्तकाय वनस्पति के सात भेद हैं—मूलज, अग्रज, पर्वज, कन्दज, स्कन्धज, बीजज और सम्मूर्छनज । अदरक और हल्दी वगैरह मूलज हैं । आर्यिका (एक प्रकार) की ककड़ी इत्यादि अग्रज हैं । देवनाल, ईख और वेत आदि गांठों से उत्पन्न होने वाली वनस्पति पर्वज हैं । प्याज और सूरण वगैरह कंदज हैं । सल्लाकी, कटेरी और पलाश आदि स्कन्धज हैं । धान और गेहूँ वगैरह बीजज हैं । तथा उधर उधर के पुद्गलों के सम्मिश्रण से होने वाली वनस्पति सम्मर्छनज हैं ॥१७॥

द्विदल और वर्षा में पत्रशाक खाने का निषेध

आमगोरससम्पृक्तं, द्विदलं प्रायशोऽनवम् ।
वर्षास्वदलितं चात्र, पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८॥

अन्वयार्थौ—(आमगोरससम्पृक्तम्) कच्चे दूध मिश्रित वा कच्चे दूध से बनाये गये दही और मठा से मिश्रित (द्विदलम्) द्विदल को (प्रायशः) बहुधा (अनवम्) पुराने (द्विदलम्) द्विदल को (वर्षासु) वर्षा ऋतु में (अदलितम्) विना दले द्विदल को (च) तथा (अत्र) इस वर्षा ऋतु में (पत्रशाकम्) पत्तों के शाक को (च) भी (न आहरेत्) नहीं खाना चाहिये ॥१८॥

---

† *जत्थेक्क मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।*
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥१॥
—गोम्मटसार जीवकाण्ड, श्लोक १९२,

भाषार्थ – कच्चे दूध के साथ तथा कच्चे दूध से तैयार हुये दही व मही (छांछ) के साथ उड़द, मूंग, चना, मटर आदि की दाल की वस्तुओं को, प्रायः कर इन दाल वाले पुराने धान्यों को, वर्षा ऋतु में बिना दले किसी भी द्विदल धान्य को और वर्षा ऋतु में पत्ते वाले शाक को भी नहीं खाना चाहिये ॥१८॥

भोगोपभोगव्रत पालन से क्रूर कर्मों का निषेध

भोगोपभोगकृशनात्, कृशीकृतधनस्पृहः ।
धनाय कोट्टपालादि-क्रियाः क्रूराः करोति कः ॥१९॥

अन्वयार्थौ—(भोगोपभोगकृशनात्) भोगोपभोग को कम करने के कारण (कृशीकृतधनस्पृहः) धन की आकांक्षा कृश होगई है जिसकी ऐसा (कः) कौन पुरुष (धनाय) धन के हेतु (क्रूराः) खराब (कोट्टपालादिक्रियाः) कोतवाल आदि की आजीविकाओं को (करोति) करेगा ? ॥१९॥

भाषार्थ—जिस व्यक्ति ने अपने भोगोपभोग को कम करने से अपनी धनलोलुपता कम करली है वह धन कमाने के हेतु कोतवाल आदि की नोकरी नहीं करता ।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार

सचित्तं तेन सम्बद्धं, सम्मिश्रं तेन भोजनम् ।
दुष्पक्वमप्यभिषवं, भुञ्जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—(सचित्तम्) सचित्त को (तेन) उस सचित्त से (सम्बद्धम्) सम्बद्ध (तेन) उस सचित्त से (सम्मिश्रम्) मिले हुये (दुष्पक्वम्) अधपके (अपि) और (अभिषवम्) गरिष्ट (भोजनम्) भोजन को (भुञ्जानः) करने वाला व्यक्ति (तत्) उस (व्रतम्) भोगोपभोगपरिमाणव्रत को (अत्येति) उल्लङ्घन करता है ॥२०॥

भावार्थ—सचित्तभोजन, सचित्तसम्बद्धभोजन, सचित्त-सम्मिश्रभोजन, दुष्पक्वभोजन और अभिषवभोजन ये पांच भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं ॥२०॥

सचित्तभोजन—कच्ची ककड़ी वगैरह को सचित्त कहते हैं। अज्ञान या प्रमाद से कच्ची ककड़ी वगैरह का मुख में डालना या खाना सचित्त भोजन कहलाता है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि--१५ वें श्लोक में त्रसघात और बहुघात आदि विषयिक स॰ ही वनस्पतियों के भक्षण का निषेध किया जा चुका है फिर यहां सचित्तभक्षण को अतिचार क्यों बताया है? इसका यह समाधान है कि वहां पर जिन वनस्पतियों के भक्षण में बुद्धिपूर्वक त्रसघातादि की सम्भावना होती है उनके खाने के त्याग का विधान है। परन्तु यहां पर त्यागी हुई वस्तु के भक्षण का अज्ञान या असावधानी से मौका आजावे तो "सचित्त" नाम का अतिचार माना है। यही युक्ति सचित्त से सम्बद्ध तथा सम्मिश्र आहार को अतिचार के कथन में लागू करना चाहिये।

सचित्तसम्बद्ध--अज्ञान व असावधानी के कारण वृक्ष में लगी हुई गोंद का खाना और पके फलों के भीतर के बीजों का खा जाना सचित्तसम्बद्ध नामका अतिचार कहलाता है। जैसे किसी ने विचार किया कि इस फल में केवल बीजमात्र सचित्त है और हमने केवल सचित्तमात्र का त्याग किया है। इसलिये खाते समय उसे छोड़ दूंगा और शेष जो अचित्त भाग है उसे खाऊंगा। ऐसी स्थिति में सचित्त बीज का सम्बन्ध उनसे नहीं छूटा है इसलिए आम और खजूर आदि पके फलों आदि के खाते समय सचित्त सम्बद्ध नाम का अतिचार होता है।

सचित्तसम्मिश्र—जिस पदार्थ में सचित्त वनस्पति इस प्रकार से मिल गई हो कि जिसको किसी प्रकार से अलग नहीं

किया जा सकता हो, प्रमाद वा अज्ञान से उस चीज का खाने में आ जाना अथवा सचित्त से मिली हुई वस्तु को सचित्त सम्मिश्र कहते हैं। जैसे अदरक, अनारदाना व ककड़ी आदि से मिश्रित पकौड़ी व पुआ आदि का खाना अथवा तिल आदि के दाने मिला कर जो यवधानादिक (जौ व धान वगैरह के पदार्थ) बनाये जाते हैं वे सचित्तसम्मिश्र कहलाते हैं।

दुष्पक्व—जो अपनी योग्यता से अधिक पक गया हो, अधजला हो गया हो अथवा कम पका हो उस को दुष्पक्व कहते हैं। जैसे पृथिक (पोहा) जब भुंज जाता है तब उसका कुछ भाग सचित्त रह जाता है और चांवल पूरे नहीं पकते तब उनकी कनी सचित्त रह जाती हैं। ऐसे पदार्थों का खाना दुष्पक्व नामका अतिचार है। उनके खाने से कच्चे अंश के खाने में सचित्ताहार दोष की सम्भावना रहती है।

अभिषव—कांजी आदि पतले पदार्थ अथवा खीर आदिक पौष्टिक पदार्थों का खाना अभिषव नाम का अतिचार है। क्योंकि ये राग व पुष्टि की अभिलाषा से अधिक खाये जाते हैं। इन सचित्त आदि के भक्षण से इन्द्रियों का मद बढ़ता है, वातादि रोगों का प्रकोप होता है और दवा खाना पड़ती है। इसलिये कुछ पापों का अंश भी लगता है अतएव व्रतियों को इन का त्याग कर देना चाहिये।

इस व्रत के अतिचार स्वामी समन्तभद्र तथा सोमदेव ने विभिन्न प्रकार भी बताये हैं। जो उनके ग्रन्थों से जानना चाहिये। 'परेऽप्यूह्यास्तथात्ययाः' पदसे यहां उनका भी समावेश होजाता है।

श्वेताम्बरमतोक्त खरकर्मों का वर्णन

व्रतयेत्खरकर्मात्र, मलान् पञ्चदश त्यजेत्।
वृत्तिं वनाग्न्यनःस्फोट-भाटकैर्यन्त्रपीडनम् ॥२१॥

निर्लाञ्छनासतीपोषौ, सरःशोषं दवप्रदाम्।
विषलाक्षादन्तकेश – रसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥२२॥

इति केचिन्न तच्चारु, लोके सावद्यकर्मणाम्।
अगण्यत्वात्प्रणेयं वा, तदप्यतिजडान् प्रति ॥२३॥

अन्वयार्थौ—[श्रावकः] श्रावक (खरकर्म) प्राणिपीडाजनक व्यापार को (व्रतयेत्) छोड़े [च] तथा (अत्र) इस खरकर्म व्रत में (वनाग्न्यनःस्फोटभाटकैः) वन, अग्नि, गाडी, स्फोट और भाटक द्वारा (वृत्तिम्) आजीविका या व्यापार को (यन्त्रपीडनम्) यन्त्रपीडन को (निर्लाञ्छनासतीपोषौ) निर्लाञ्छनकर्म तथा असतीपोष को (सरःशोषम्) सरःशोष को (दवप्रदाम्) दवाग्नि को [च] तथा (अङ्गिरुक्) प्राणिपीडाकारक (विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यम्) विष, लाक्षा, दन्त, केश तथा रस के व्यापार को [इति] इस प्रकार (पञ्चदश) पन्द्रह (मलान्) अतिचारों को (त्यजेत्) छोड़े (इति) इस प्रकार (केचित्) कोई श्वेताम्बर आचार्य [कथयन्ति] कहते हैं। परन्तु (लोके) संसार में (सावद्यकर्मणाम्) पापजनककार्यों के (अगण्यत्वात्) अगण्य होने से (तत्) उनका वह कहना (न चारु) ठीक नहीं है (वा) अथवा (अतिजडान् प्रति) अत्यन्तमूढ़ बुद्धि वाले पुरुषों के प्रति (तत्) वह खरकर्मव्रत (अपि) भी (प्रणेयम्) प्रतिपादन करने योग्य है ॥२१,२२,२३॥

भावार्थ—प्राणिपीडाजनकव्यापार को खरकर्म (क्रूरकर्म कहते हैं। इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्याग का नाम खरकर्मभोगोपभोगत्यागव्रत कहलाता है। वनजीविका, अग्निजीविका, अनोजीविका, स्फोटजीविका, भाटकजीविका, यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छनकर्म, असतीपोष, सरःपोष, दवप्रद, विषवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, दन्तवाणिज्य, केशवाणिज्य और

रसवाणिज्य ये पन्द्रह खरकर्मत्यागव्रत के अतिचार हैं। इस खरकर्म का त्याग करना चाहिये। यह किसी श्वेताम्बर आचार्य का कथन है, परन्तु पापरूप आजीविकाओं की गिनती नहीं की जा सकती। इसलिये १५ ही के त्याग का उपदेश देना ठीक नहीं है। हाँ ! जो अत्यन्त मन्दबुद्धि हैं उनके लिए इतने खरकर्म बता कर त्याग करना बुरा नहीं ॥२१, २२, २३॥

वनजीविका—स्वयं टूटे हुए अथवा तोड़ कर वृक्ष आदि वनस्पति का बेचना अथवा गेहूँ आदिक अनाजों का पीस कूट कर व्यापार करना। अग्निजीविका—अग्नि द्वारा कोयला व लुहार की चीजें वगैरह बनाकर व्यापार करना। अनोजीविका—स्वयं गाड़ी रथ तथा उसके चका वगैरह बनाना अथवा दूसरों से बनवाना। गाड़ी जोतने का व्यापार स्वयं करना तथा दूसरों से कराकर आजीविका करना और गाड़ी आदि के बेचने का व्यापार करना।

स्फोटजीविका—पटाखा व आतसवाजी आदि बारूद की चीजों से आजीविका करना। भाटकजीविका—गाड़ी, घोड़ा आदि से बोझा ढोकर भाड़े की आजीविका करना। यन्त्रपीडन—कोल्हू चलाना, तिल आदि को कोल्हू में पिलवाना अथवा तिल वगैरह देकर उसके बदले में तेल लेना।

निर्लाञ्छन—बैल और पड़ा आदि के नाक और मुष्क आदि अवयवों के छेदन की आजीविका करना। असतीपोष—हिंसक प्राणियों का पालन पोषण करना और किसी प्रकार के भाड़े की उत्पत्ति के लिए दास और दासियों का पोषण करना। सरःशोष—अनाज बोने के लिए जलाशयों से नाली खोद कर पानी निकालना।

दवप्रद्—घास वगैरह जलाने के लिए वन में आग लगा देना। इसके दो भेद हैं। व्यसनज और पुण्यबुद्धिज। भीलों आदि के द्वारा वन में बिना प्रयोजन आग लगाई जाना व्यसनज दवप्रद कहलाता है। और जब मैं मर जाऊँगा तब मेरे कल्याण के लिए इतने दीपकों का उत्सव कराया जाय इस प्रकार की पुण्य-बुद्धि से दीपकों में जो अग्नि जलाई जाती है उसे पुण्यबुद्धिज-दवप्रद कहते हैं। तथा सूखे घास के जला देने से इस जगह अच्छी उपज होती है और अच्छा घास पैदा होता है, इस भावना से आग लगवाना दवप्रद कहलाता है। विषवाणिज्य—प्राणघातक विष का व्यापार करना।

लाक्षावाणिज्य—लाख के व्यापार को लाक्षावाणिज्य कहते हैं। लाख जिन पत्तों पर लगाई जाती है उनकी हिंसा हो जाती है। जब वृक्ष से लाख निकाली जाती है तब जिन जीवों के शरीर से यह लाख बनती हैं, उनके आश्रित रहने वाले असंख्य त्रस जीवों का घात हो जाता है। लाख के कीड़े जिन छोटे छोटे पत्तों पर बैठते हैं, उनमें जो सूक्ष्म त्रसजीव होते हैं, उनके घात बिना लाख पैदा ही नहीं होती। इसी प्रकार मनसिल, गूगल तथा धाय के फूल आदि का व्यापार भी लाक्षावाणिज्य में गर्भित हैं।

दन्तवाणिज्य-जहाँ हाथी वगैरह रहते हैं उस जगह व्यापार करने के लिए भीलादिकों को द्रव्य देकर दाँत आदि खरीदना। केशवाणिज्य—दासी, दास और पशुओं का व्यापार करना। रसवाणिज्य—मक्खन, मधु, चरबी और मद्य आदिका व्यापार करना।

तात्पर्य यह है कि दिगम्बर आचार्यों ने त्रसघात, बहुघात और प्रमाद के विषयभूत पदार्थों का त्याग कराया है, उसमें इन सबका समावेश हो जाता है। अतएव इस खरकर्म व्रत के पृथक् उपदेश की आवश्यकता नहीं है ॥२१, २२, २३॥

शिक्षाव्रत का लक्षण

शिक्षाव्रतानि देशा–वकाशिकादीनि संश्रयेत् ।
श्रुतिचक्षुस्तानि शिक्षा–प्रधानानि व्रतानि हि ॥२४॥

अन्वयार्थौं—[श्रावकः] श्रावक (श्रुतिचक्षुः) श्रुतज्ञानरूपी नेत्र वाला [सन्] होता हुआ (देशावकाशिकादीनि) देशावकाशिक आदिक (शिक्षाव्रतानि) शिक्षाव्रतों को (संश्रयेत्) ग्रहण करे (हि) क्योंकि (तानि) वे (व्रतानि) व्रत (शिक्षाप्रधानानि) शिक्षाप्रधान [भवन्ति] होते हैं ॥२४॥

भाषार्थः— जिनव्रतों से सर्व पापों के त्याग या मुनिव्रत की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। उनके पालन से अणुव्रतों में विशेष निर्मलता आती है और उनकी रक्षा होती है; इसलिए शिक्षाप्रधान वा व्रतपरिरक्षक होने के कारण इन देशावकाशिक आदि को ग्रहण करना चाहिए। शिक्षाव्रत के देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथि संविभाग ये चार भेद हैं।

विशेषार्थः–प्रातःकाल के सामायिक के बाद देशावकाशिक व्रत में दिन भर के लिए जो क्षेत्र की मर्यादा की जाती है उससे सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है। सामायिक करते समय सामायिक के काल तक समताभाव धारण करने से सर्व पापों का कालकृत त्याग हो जाता है। प्रोषधोपवास व्रत में प्रोषधोपवास व्रत के काल तक सर्व आरम्भ आदि का त्याग कर देने से सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है। और अतिथि-संविभाग व्रत के पालने से (अतिथियों का वैयावृत्य करने से) उनका आदर्श अपने जीवन में उतर सकता है। इसलिए सर्व पापों के त्याग की शिक्षा मिलती है ॥२४॥

भाषार्थः—दिग्व्रत में जीवन भर के लिए सीमित आवागमन के क्षेत्र की मर्यादा को नियत काल तक घटाना देशावकाशिक व्रत कहलाता है। अर्थात् दिग्व्रत में परिमाण किए हुए

क्षेत्र के किसी एकदेश में अवकाश तथा रहना देशावकाशिक व्रत कहलाता है ॥२५॥

भावार्थः—सीमा के बाहर आवागमन की तृष्णा नहीं कर के किसी पर्वत, गाँव तथा नगर आदि की मर्यादा करके मर्यादित क्षेत्र के भीतर मर्यादित काल तक संतोषपूर्वक रहने वाला व्यक्ति देशावकाशिक कहलाता है ॥२६॥

विशेषार्थः—इस व्रत के पालन से सीमा के बाहर सर्व-देशरूप से पाप के त्याग करने का अभ्यास होता है या शिक्षा मिलती है। तथा यह व्रत परिमित काल के लिये धारण किया जाता है, दिग्व्रत के समान यावज्जीवन के लिये नहीं। इसलिये इसे शिक्षाव्रत कहना युक्तिसंगत है। दिग्व्रत के समान इस व्रत में भी सीमा के बाहर विद्यमान वस्तु सम्बन्धी लोभादिक की निवृत्ति हो जाने के कारण स्थूल और सूक्ष्म हिंसादिक का सब प्रकार से त्याग हो जाता है। यही इसका प्रत्यक्ष फल है। और परभव में आज्ञा, ऐश्वर्य आदिक सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। इसलिये यह व्रत अवश्य पालन करने योग्य है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

उमास्वामी महाराज ने देशावकाशिक व्रत को गुणव्रत मान कर इसके स्थान में भोगोपभोग परिमाणव्रत को शिक्षाव्रत माना है। उनका यह अभिप्राय है कि दिग्व्रत के संक्षेपीकरण का नाम देशावकाशिकव्रत है। और यह दिग्व्रत का देशावकाशिकव्रत रूपसे संक्षेपीकरण का द्योतक है क्योंकि प्रत्येक व्रत के संक्षेपीकरण को भी उसके समान होना आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक व्रत के भी उस संक्षेपीकरण को स्वतंत्र व्रत मान लेने पर उत्तर गुण बारह होते हैं यह नियम नहीं रह सकता। इसलिए उपलक्षण से देशावकाशिक-व्रत को सब का संक्षेपीकरण मान लिया है [२६]।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

पुद्गलक्षेपणं शब्द-श्रावणं स्वाङ्गदर्शनम् ।
प्रैषं सीमबहिर्देशे, ततश्चानयनं त्यजेत् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—[तद्व्रतनैर्मल्यार्थी] देशावकाशिकव्रत की निर्मलता चाहने वाला श्रावक (सीमबहिर्देशे) मर्यादा के विषयभूत प्रदेश से बाहर के प्रदेश में (पुद्गलक्षेपणम्) पत्थर आदि के फेंकने को (शब्दश्रावणम्) शब्द के सुनाने को (स्वाङ्गदर्शनम्) अपने शरीर के दिखाने को (प्रैषम्) किसी मनुष्य के भेजने को (च) और (ततः) मर्यादा के बाहर के प्रदेश से (आनयनम्) किसी वस्तु के बुलाने को (त्यजेत्) छोड़े ॥२७॥

भाषार्थ—पुद्गलक्षेपण, शब्दश्रावण, स्वाङ्गदर्शन, प्रैष और आनयन ये पाँच देशावकाशिकव्रत के अतिचार हैं ॥२७॥

पुद्गलक्षेपण—मर्यादा के बाहर स्वयं तो नहीं जाना, परन्तु अपने कार्य के लोभ से मर्यादा के बाहर व्यापार करने वालों को प्रेरणा के हेतु ढेला और पत्थर आदि फेंक कर संकेत करना ।

शब्दश्रावण—सीमा के बाहर रहने वाले, मनुष्यों को कार्य के लिये अपने पास बुलाने आदि के हेतु उनको सुन पड़े इस प्रकार चुटकी बजाना और ताली पीटना आदि ।

स्वाङ्गदर्शन—किसी कार्य के लिए सीमा के बाहर से जिनको बुलाना है उनको शब्दोच्चारण के बिना अपने शरीर अथवा शरीर के अवयव दिखाना आदि ।

प्रेष्यप्रयोग—स्वयं मर्यादा, के भीतर रहकर कार्य के लिए "तुम यह कार्य करो" ऐसा कह कर मर्यादा के बाहर नोकर वगैरह को भेजना ।

प्रेष्यायन—स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर "तुम यह लाओ" इस प्रकार कह कर मर्यादा के बाहर से किसी वस्तु को बुलाना ।

श्लोक में आये हुए "च" पद से यह भी ध्वनित होता है कि यदि कोई नोकर मर्यादा के बाहर स्थित है तो उसे किसी कार्य की आज्ञा करना भी अतिचार है।

ये दोनों पिछले अतीचार अज्ञान अथवा उतावले पन से होते हैं। इन पांचों में व्रत की अपेक्षा रहते हुए मायावीपन, अज्ञान और उतावले पन से एकदेश का भंग है इसलिए ये अतिचार कहलाते हैं ॥२०॥

सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण

एकान्ते केशबन्धादि–मोक्षं यावन्मुनेरिव।
स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादि–त्यागः सामायिकव्रतम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—(केशबन्धादिमोक्षं यावत्) केशबन्ध और मुष्टिबन्ध आदि के छोड़ने पर्यन्त (एकान्ते) एकान्त स्थान में (मुनेः इव) मुनि के समान (स्वम्) अपने आत्मा को (ध्यातुः) चिन्तवन करने वाले (शिक्षाव्रतिनः) शिक्षाव्रती श्रावक का (यः) जो (सर्वहिंसादित्यागः) हिंसादिक पाँचों ही पापों का त्याग [अस्ति] है [सः] वह (सामायिकव्रतम्) सामायिक शिक्षाव्रत [भवति] कहलाता है ॥२८॥

भाषार्थः—केशबन्ध, मुष्टिबन्ध और वस्त्रबन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण रागद्वेष और हिंसादिक पापों का परित्याग कर अपने आत्मा का ध्यान करना सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है ॥२८॥

विशेषार्थः—सम=रागद्वेष की निवृत्ति, अय=प्रशमादिरूप-ज्ञान का लाभ ये दोनों जिसके प्रयोजन हैं उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। अथवा रागद्वेषमें माध्यस्थ भाव रखना सामायिक है अथवा समय=आप्तोपदेश,उसमें नियुक्त कर्म (व्यापार) को सामायिक कहते हैं। अर्थात् व्यवहार दृष्टि से जिन भगवान के पूजन, अभिषेक, स्तवन और जाप को सामायिक कहते हैं। और निश्चय

से आत्मध्यान को सामायिक कहते हैं। अथवा विधिपूर्वक सामायिक के समय तक (केशबन्धादि) पर्यन्त सम्पूर्ण रागद्वेष का परित्याग कर प्रशम और सम्वेग आदि रूप ज्ञान का लाभ होना जिसकी आराधना का प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं।

देशावकाशिकव्रत में मर्यादा के बाहर सर्व पापों की निवृत्ति होती है और सामायिक में सर्वत्र सर्व पापों की निवृत्ति होती है यही इन दोनों में अन्तर है।

इसकी विधि में जो केशबन्धादिक से मोक्षपर्यन्त सामायिक करने का विधान किया है उसका अभिप्राय यह है कि सामायिक करते समय ऐसी प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है कि जब तक मैं केशों की गाँठ नहीं छोड़ूंगा, बांधी हुई मुट्ठी को नहीं छोड़ूंगा, वस्त्र की गांठ नहीं छोड़ूंगा तब तक मेरे सर्व सावद्य का त्याग है, मैं समताभाव को नहीं छोड़ूंगा ॥२८॥

सामायिकव्रत की भावना

परं तदेव मुक्त्यङ्ग—मिति नित्यमतन्द्रितः ।
नक्तं दिनान्ते ऽवश्यं तद्, भावयेच्छक्तितो ऽन्यदा ॥२९॥

अन्वयार्थौ—(तत्) वह सामायिक (एव) ही (परम्) उत्कृष्ट (मुक्त्यङ्गम्) मोक्ष का साधन [अस्ति] है (इति) इसलिये [मुमुक्षुः] मोक्ष का इच्छुक श्रावकः (नित्यम्) सदा (अतन्द्रितः) आलस्य रहित होता हुआ (नक्तं दिनान्ते) रात्रि और दिन के अन्त में (अवश्यम्) नियम से (तत्) उस सामायिकव्रत को (भावयेत्) अभ्यास करे तथा (शक्तितः) शक्ति के अनुसार (अन्यदा) दूसरे समयों में [अपि] भी (तत्) उस सामायिक व्रत को (भावयेत्) अभ्यास करे ॥२९॥

भाषार्थः—केवल सामायिक ही मुक्ति का अङ्ग है इसलिये मुमुक्षु व्रतिक श्रावक को आलस्य का परित्याग करके प्रातः और

संध्या समय सदा अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। और यथाशक्ति मध्याह्न आदिक काल में भी सामायिक करना चाहिये। क्योंकि मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र है और चारित्र का प्रधान अङ्ग सामायिक है ॥२६॥

विशेषार्थः—व्रतिक के लिए प्रातः और सन्ध्या समय सामायिक का विधान आवश्यक है और मध्याह्न काल तथा इतर समय में अपनी शक्ति नहीं छिपा कर सामायिक करना दोषाधायक नहीं, किन्तु गुणवर्धक है। क्योंकि जितने अंश में समताभाव की वृद्धि होती जाती है उतने ही अंश में चारित्र की वृद्धि होती है ॥२६॥

सामायिक के समय परीषहोपसर्ग आने पर करणीय विचार

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः, शुभः शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत्, किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥३०॥

अन्वयार्थौ—[प्रतिपन्नसामायिकः] सामायिकव्रत को ग्रहण करने वाला श्रावक (मोक्षः) मोक्ष (आत्मा) आत्मरूप (सुखम्) सुखरूप (नित्यः) नित्य (शुभः) शुभ [च] तथा (शरणम्) शरण [अस्ति] है। तथा (भवः) संसार (अन्यथा) इससे विपरीत [अस्ति] है [अतः] इसलिये (अस्मिन्) इस संसार में (वसतः) निवास करने वाले [मे] मेरे (अन्यत्) अन्य (किम्) क्या (स्यात्) होगा, (इति) इस प्रकार (आपदि) परीषह तथा उपसर्ग के आने पर (स्मरेत्) चिन्तवन करे ॥३०॥

भाषार्थः—सामायिक करते समय परीषह और उपसर्ग आने पर सामायिकव्रती को अपने अन्तःकरण में इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए कि अनन्तज्ञानादिस्वरूप मोक्ष ही मेरा आत्मा है, अनाकुल चेतनस्वरूप होने से मोक्ष ही सुख है, अनन्त-स्वरूप होने से मोक्ष ही नित्य है, शुभ कार्य होने से मोक्ष ही शुभ

है, विपत्ति के अगोचर होने से मोक्ष ही शरण है और मेरे लिये चतुर्गति में परावर्त्तन रूप संसार इससे विपरीत है। अर्थात् संसार मेरे लिए अनात्मस्वरूप, दुःखरूप, विनाशी, अशुभ और अशरण है। जब तक मैं इस संसार में हूँ तब तक मुझे इन परीषह और उपसर्गों को छोड़कर और क्या होने वाला है, क्या हुआ है तथा क्या होगा। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का चिन्तवन करते हुए सब प्रकार के परीषह और उपसर्गों को सह कर भावसामायिक व्रत धारण करना चाहिए ॥३०॥

सामायिक की सिद्धि के लिये कर्त्तव्य कार्य

स्नपनार्चास्तुतिजपान्, साम्यार्थं प्रतिमार्पिते।
युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्या-दृते सङ्कल्पितेऽर्हति ॥३१॥

अन्वयार्थौ—(मुमुक्षुः) मोक्ष का इच्छुक श्रावक (प्रतिमार्पिते) प्रतिमा में प्रतिष्ठापित (अर्हति) अरिहन्त भगवान में (साम्यार्थम्) सामायिकव्रत की सिद्धि के लिए (यथाम्नायम्) आम्नाय के अनुसार (स्नपनार्चास्तुतिजपान्) अभिषेक, पूजा, स्तुति और जप को (युञ्ज्यात्) करे [च] तथा (सङ्कल्पिते) चांवल आदि में संकल्पित (अर्हति) अरिहन्त भगवान में (आद्यात् ऋते) अभिषेक के बिना अन्य पूजा आदि तीन क्रियाओं को (युञ्ज्यात्) करे ॥३१॥

भाषार्थः—मुमुक्षु श्रावक सामायिकव्रत की सिद्धि के लिए तदाकार प्रतिमा में स्थापित अरिहन्त का आगम के अनुसार अभिषेक, पूजन, स्तुति तथा जाप करे। और अतदाकार चांवल आदि में स्थापित अरिहन्त की केवल पूजा, स्तुति और जाप करे।

विशेषार्थः—स्थापना दो प्रकार की है। साकार और निराकार। साकार स्थापना में अभिषेक, पूजा, स्तुति और जप के द्वारा देवपूजा की जाती है। और निराकार स्थापना में अभिषेक

को छोड़कर शेष तीन प्रकार से देव की उपासना की जाती है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार देव की उपासना में तत्पर रहने वाले व्यक्ति व्यवहार से सामायिकव्रत के धारक होते हैं ॥३१॥

सामायिक की दुःसाध्यता का प्रदर्शन

सामायिकं सुदुःसाध्य—मप्यभ्यासेन साध्यते ।
निम्नीकरोति वार्विन्दुः, किन्नाश्मानं मुहुः पतन् ॥३२॥

अन्वयार्थौ—(सुदुःसाध्यम्) अत्यन्त दुःसाध्य भी अर्थात् बड़ी कठिनता से सिद्ध होने वाला (अपि) भी (सामायिकम्) सामायिक व्रत (अभ्यासेन) अभ्यास के द्वारा (साध्यते) सिद्ध हो जाता है [यतः] क्योंकि [यथा] जैसे (मुहुः) बार बार (पतन्) गिरने वाली (वार्विन्दुः) जल की बूँद (अश्मानम्) पत्थर को (न निम्नीकरोति किम्) गड्ढा विशिष्ट नहीं कर देतो है क्या ? अर्थात् कर ही देती है ॥३२॥

भाषार्थः—आकुलता-सहित कठोर अन्त करण वाले संसारियों के लिए यद्यपि सामायिक का धारण करना बहुत कठिन है, तो भी वह अभ्यास के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। जैसे—पत्थर के ऊपर पुनः पुनः पड़ने वाली जल की बूँद पत्थर में भी गड्ढा कर देती है वैसे ही पुनः पुनः किये गये अभ्यास से आत्मा में विषय और कषायों की मन्दता होकर सामायिकव्रत की सिद्धि होती है ॥३२॥

सामायिकव्रत के अतिचार

पञ्चात्रापि मलानुज्झे—दनुपस्थापनं स्मृतेः ।
कायवाङ्मनसां दुष्ट—प्रणिधानान्यनादरम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—[फलार्थी श्रावकः] सामायिक के फल का इच्छुक श्रावक (अत्र) इस सामायिकव्रत में (अपि) भी (स्मृतेः) स्मृति का (अनुपस्थापम्) भूल जाना (कायवाङ्मनसाम्) काय, वचन तथा मन

की (दुःप्रणिधानानि) पाप कार्यों में प्रवृत्ति करना [च] और (अनादरम्) अनादर करना [इति] इन (पञ्च मलान्) पांच अतिचारों को (उज्झेत्) छोड़े ॥३३॥

भाषार्थ :—स्मृत्यनुपस्थापन, वचनदुःप्रणिधान, कायदुः प्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान और अनादर ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं। सामायिक की पूर्ति का इच्छुक श्रावक इन पाँच अतिचारों को छोड़े ॥३३॥

स्मृत्यनुपस्थान— चित्त की एकाग्रता का न होना स्मृत्यनुपस्थापन है। अथवा मैंने सामायिक किया है या नहीं किया है, मुझे सामायिक करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, इस प्रकार चित्त की अनेकाग्रता को भी स्मृत्यनुपस्थापन कहते हैं। यह अतिचार प्रमाद की प्रबलता से होता है। क्योंकि व्रतानुष्ठान का स्मरण मोक्षमार्ग के अनुष्ठान का मूलकारण है। इसलिए उसके स्मरण में अन्तर आना आत्मा को व्रत की अन्तवृ त्ति से च्युत करना है। अतः स्मृत्यनुपस्थापन अतिचार बताया गया है।

कायदुष्टप्रणिधान—सामायिक करते हुये भी शरीर से सावद्य कर्म में प्रवृत्त होना कायदुष्टप्रणिधान है। अर्थात् सामायिक करते समय हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को स्थिर नहीं रखना कायदुष्टप्रणिधान है।

वचनदुष्टप्रणिधान—सामायिकपाठ या सामायिकमंत्र के उच्चारण के समय वर्णों के संस्कार से उत्पन्न होनेवाला अर्थबोध नहीं होना अथवा सामायिक व मंत्र के पाठ के उच्चारण में चपलता का होना वचनदुष्टप्रणिधान नाम का अतिचार है।

मनोदुष्टप्रणिधान—सामायिक करते समय क्रोध, लोभ, अभिमान और ईर्षा वगैरह मनोविकारों का उत्पन्न होना या कार्य के व्यासंग से संभ्रम उत्पन्न होना मनोदुष्टप्रणिधान है।

अनादर—सामायिक में उत्साह का नहीं रहना, निश्चित समय पर सामायिक का नहीं करना अथवा यद्वा तद्वा सामायिक के अनन्तर ही अतिशीघ्र भोजनादिक में लग जाना अनादर है।

विशेषार्थः—सामायिक में क्रोधादिक के आवेश से चित्त का चिरकाल तक स्थिर नहीं रहना स्मृत्यनुपस्थापन है। और चिन्ता के कारण चित्त में अनेकाग्रता रहना मनोदुष्ट प्रणिधान है यही इन दोनों में अन्तर है।

अविधिपूर्वक किये गये सामायिक की अपेक्षा सामायिक नहीं करना ही अच्छा है। इस असूयासूचक वचन को प्रमाण मानकर भंग की सम्भावना से सामायिक का नहीं करना अच्छा नहीं है क्योंकि पूर्व संस्कार के बिना यतियों के भी प्रारम्भ में सामायिक की एकदेश विराधना होती है किन्तु इतने मात्र से उनका सामायिक व्रत भंग नहीं समझा जाता। इसी प्रकार सामायिक करते समय "मैं मन से कोई पाप नहीं करूँगा" इस प्रकार समस्त पापों के त्याग में भी उपर्युक्त अतिचारों के कारण सामायिक के एकदेश का भंग होता है। सर्वथा सामायिक व्रत का अभाव नहीं होता इसलिए ये पाँचों अतिचार हैं ॥३३॥

उत्तम प्रोषधोपवास का लक्षण

स प्रोषधोपवासो य—च्चतुष्पर्व्यां यथागमम् ।
साम्यसंस्कारदार्ढ्याय, चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥३४॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो (साम्यसंस्कारदार्ढ्याय) सामायिक के संस्कार की दृढ़ता के लिये (चतुष्पर्व्याम्) चारों ही पर्व तिथियों में (यथागमम्) आगम के अनुसार (सदा) जीवन पर्यन्त (चतुर्भुक्त्युज्झनम्) चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करना [अस्ति] है (सः) वह (प्रोषधोपवासः) प्रोषधोपवास [भवति] कहलाता है ॥३४॥

भावार्थः—सामायिक के संस्कारों को दृढ़ करने के लिये अर्थात् परीषहों और उपसर्गों के आने पर समताभाव से पतन

नहीं हो इस हेतु से चारों ही पर्वों में शास्त्रानुसार जीवन भर के लिये जो चार प्रकार के आहारों का त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं ॥३४॥

विशेषार्थः—एक दिन में दो भुक्ति होती हैं, यह शास्त्र संमत मार्ग है। प्रोषधोपवास धारणा और पारणापूर्वक होता है। अतः प्रत्येक मास के चार पर्वों में प्रोषधोपवास करने वाला सप्तमी और त्रयोदशी को प्रोषधोपवास की धारणा में एक भुक्ति का त्याग करता है और एक भुक्ति का ग्रहण करता है। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दोनों ही भुक्तियों का त्याग करता है। और नवमी तथा पूर्णिमा को पारणा करते हुए एक ही भुक्ति का ग्रहण करता है तथा एक भुक्ति का त्याग करता है। इस प्रकार अशन, स्वाद्य, खाद्य और पेय इन चारों प्रकार के आहारों की चतुर्भुक्तियों के त्याग को प्रोषधोपवास कहते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रोषधोपवास के करने से परीषह और उपसर्गों के सहन करने का अभ्यास होता है और उससे समताभाव का उत्कर्ष तथा दृढ़ीकरण होता है।

मध्यम और जघन्य प्रोषधोपवास का विधान

उपवासाक्षमैः कार्यो ऽनुपवासस्तदक्षमैः।
आचाम्लनिर्विकृत्यादि, शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—(उपवासाक्षमैः) उपवास करने में असमर्थ श्रावकों के द्वारा (अनुपवासः) जल को छोड़ कर चारों प्रकार के आहार का त्याग (कार्यः) किया जाना चाहिये [च] और (तदक्षमैः) अनुपवास करने में असमर्थ श्रावकों के द्वारा (आचाम्लनिर्विकृत्यादि) आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि रूप आहार (कार्यः) किया जाना चाहिये (हि) क्योंकि (शक्त्या) शक्ति के अनुसार [कृतम्) किया गया (तपः) तप (श्रेयसे) कल्याण के लिये [भवति] होता है ॥३५॥

भाषार्थः—जो पूर्वोक्त उत्तम उपवास करने में असमर्थ है उसे अनुपवास करना चाहिए। और जो अनुपवास करने में भी असमर्थ हैं उसे आचाम्ल और निर्विकृति आदि रूप भोजन करना चाहिये। क्योंकि प्रोषधोपवास तप है। और वह अपनी शक्ति के अनुसार किया गया ही कल्याणकारी होता है ॥३५॥

अनुपवास—प्रोषधोपवास व्रतमें जल रखकर शेष आहारों का त्याग करना अनुपवास कहलाता है। आचाम्लाहार—कांजी सहित केवल भात के भोजन को आचाम्लाहार कहते हैं।

निर्विकृतिआहार—विकृति शब्द का अर्थ गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरस है, क्योंकि जिस आहार से जिह्वा और मन में विकार पैदा होता है उसे विकृति कहते हैं। अतः उपर्युक्त चारों प्रकार के रस विकृति कहलाते हैं। घी, दूध आदि गोरस हैं। शक्कर, गुड़ आदि इक्षुरस हैं। द्राक्षा आम आदि के रस को फलरस कहते हैं। और तेल, मांड़ आदि को धान्यरस कहते हैं।

अथवा जिसको मिलाकर भोजन करने से भोजन में स्वाद आता है उसको विकृति कहते हैं और इस प्रकार की विकृतिरहित भोजन के करने को निर्विकृति आहार कहते हैं। आचाम्लनिर्विकृत्यादि पद में जो आदि शब्द आया है उससे एक स्थान पर बैठ कर ही भोजनपान करने का अथवा रस छोड़ कर भोजन करने आदि का ग्रहण किया है।

प्रोषधोपवास की विधि

पर्वपूर्वदिनस्यार्धे, भुक्त्वाऽतिथ्यशितोत्तरम् ।
लात्वोपवासं यतिवद्, विविक्तवसतिं श्रितः ॥३६॥
धर्मध्यानपरो नीत्वा, दिनं कृत्वाऽ पराह्णिम् ।
नयेत् त्रियामां स्वाध्याय-रतः प्रासुकसंस्तरे ॥३७॥

अन्वयार्थौ—[प्रोषधोपवासव्रती] प्रोषधोपवासव्रत का पालक श्रावक (पर्वपूर्वदिनस्य) पर्व के पहिले दिन के (अर्धे) आधे भाग में, अर्थात् मध्याह्न अथवा कुछ कम ज्यादह काल में (आतिथ्यशितोत्तरम्) अतिथि को भोजन कराने के अनन्तर (भुक्त्वा) स्वयं भोजन करके (यतिवत्) मुनि के समान (उपवासम्) उपवास को (लात्वा)स्वीकार करके (विविक्तवसतिम्) निर्जन स्थान को (श्रितः) आश्रित होता हुआ (धर्मध्यानपरः) धर्मध्यान में तत्पर होता हुआ (दिनम्) दिन को (नीत्वा) विता करके [च] और (आपराह्णिकम्) सन्ध्या काल में होने वाले संध्यावन्दन आदि सम्पूर्ण कर्मों को (कृत्वा) करके (स्वाध्यायरतः) स्वाध्याय में लीन [सन्] होता हुआ (प्रासुकसंस्तरे) शुद्ध शय्या पर (त्रियामाम्) रात्रि को (नयेत्) वितावे ॥३६,३७॥

भाषार्थः—पर्व के पूर्व दिन के मध्याह्न काल में अतिथि को आहारदान देकर विधिपूर्वक स्वयं भोजन करके जिस प्रकार यति यदि उन्हें अगले दिन उपवास करना होता है तो वे उपवास करने का व्रत पूर्व दिन के भोजन के समय ही लेते हैं। उसी प्रकार धारणा के दिन के भोजनानन्तर यह भी उपवास ग्रहण करे। तथा की हुई उपवास की इस प्रतिज्ञा को आचार्य के पास जाकर प्रकट करे। उपवास की प्रतिज्ञा लेने के अनन्तर सावद्य व्यापारों, शरीर के संस्कारों और अब्रह्म का त्याग कर देना चाहिए तथा अयोग्य जन रहित और प्रासुक एकान्त स्थान का आश्रय कर वहाँ पर चार प्रकार के धर्मध्यान में लीन होकर संध्याकाल को व्यतीत करे। अनन्तर सन्ध्याकाल सम्बन्धी सब कृतिकर्म करके जन्तुरहित तृणादिक से बने हुए प्रासुक चटाई आदि पर स्वाध्याय करते हुए निद्रा और आलस्य को छोड़कर रात्रि व्यतीत करे।

विशेषार्थः—यहाँ पर "धर्मध्यानपरः" में जो परशब्द आया है उससे यह सूचित होता है कि यदि धर्मध्यान में चित्त नहीं लगता होतो स्वाध्याय तथा बारह भावनाओंका चिन्तवन करे

प्रोषधोपवास की विधि

ततः प्राभातिकं कुर्यात्, तद्वद्यामान् दशोत्तरान् ।
नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा, भुञ्जीतालौल्यतः सकृत् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—(ततः) विधिपूर्वक छह प्रहरों को बिताने के अनन्तर (प्राभातिकम्) प्रातःकाल में होने वाले सम्पूर्ण आवश्यकादिक कर्मों को (कुर्यात्) करे (च) और (पुनः) फिर (ततः) इसके अनन्तर (तद्वत्) पूर्वोक्त छह प्रहरों के समान (उत्तरान्) आगे के (दश) दश (यामान्) प्रहरों को (नीत्वा) बिता कर (अलौल्यतः) भोजन में आसक्ति को छोड़ कर (सकृत्) एक वार (भुञ्जीत) भोजन करे ॥३८॥

भाषार्थः—पर्व के दिन प्रातःकाल उठ कर प्रातःकाल सम्बन्धी सब आवश्यक कर्म करे और धारणा के दिन सम्बन्धी छह प्रहर के कृतिकर्म के समान शेष दश प्रहरों में भी कृतिकर्म करता हुआ व्यतीत करे। अनन्तर पारणा के दिन अतिथि को आहार देकर आसक्ति का त्याग कर एक वार भोजन करे॥३८॥

प्रोषधोपवास में पूजा का विधान

पूजयोपवसन्पूज्यान्, भावमय्यैव पूजयेत् ।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा, रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—(उपवसन्) उपवास करने वाला श्रावक (भावमय्या) भावमयी (वा) अथवा (प्रासुकद्रव्यमय्या) प्रासुकद्रव्यमयी (पूजया) पूजा के द्वारा (एव) ही (पूज्यान्) देव, शास्त्र और गुरु को (पूजयेत्) पूजे तथा (रागाङ्गम्) राग के कारणों को (दूरम्) दूर (उत्सृजेत्) छोड़े।

भाषार्थः—उपवास के दिन उपवास करने वाला श्रावक भावपूजन करे अथवा प्रासुक द्रव्य से द्रव्यपूजन करे। किन्तु इन्द्रिय और मन को लोलुपता बढ़ाने वाले गीत और नृत्य आदि रागवर्द्धक साधनों का त्याग करे ॥३९॥

विशेषार्थः—भक्तिपूर्वक देव, शास्त्र और गुरु के गुणों का स्मरण करना भावपूजा है। यह भावपूजा प्रोषधोपवासी के सामायिक में निरत रहने के कारण सहज सिद्ध है। क्योंकि द्रव्यपूजा का भी साध्य (फल) भावपूजा है। परन्तु जो इसमें असमर्थ है वह प्रासुक अक्षतादि के द्वारा द्रव्य पूजा करे ॥३६॥

प्रोषधोपवास के पांच अतिचार

ग्रहणास्तरणोत्सर्गा – ननवेक्षाप्रमार्जनान् ।
अनादरमनैकाग्र्य – मपि जह्यादिह व्रते ॥४०॥

अन्वयार्थौ—[श्रावकः] नैष्ठिक श्रावक (इह) इस प्रोषधोपवास नामक (व्रते) व्रत में (अनवेक्षाप्रमार्जनान्) नहीं है चक्षु के द्वारा देखना तथा कोमल उपकरण के द्वारा साफ करना जिनमें ऐसे (ग्रहणास्तरणोत्सर्गान्) उपकरणादिक के ग्रहण को, बिछौना के बिछाने को, मलमूत्रादिक के त्यागने को (अनादरम्) अनादर को (अपि) और (अनैकाग्र्यम्) अनैकाग्र्य को (जह्यात्) छोड़े ॥४०॥

भाषार्थः – अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण, अनवेक्षाप्रमार्जितास्तरण, अनवेक्षाप्रमार्जितोत्सर्ग, अनादर और अनैकाग्र्य ये पांच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं ॥४०॥

अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण—जन्तु हैं या नहीं इस प्रकार चक्षु के द्वारा अवलोकन करने को अवेक्षा करते हैं। कोमल उपकरण से स्थानादिक के शोधने को प्रमार्जित कहते हैं। पूजा के उपकरण और स्वाध्याय के लिये शास्त्र आदिक को बिना देखे वा बिना शोधे ग्रहण करना अनवेक्षाप्रमार्जितग्रहण नामका अतीचार है। उपलक्षण से बिना देखे और बिना शोधे हुये उनको रखना भी अतीचार होता है।

इसी प्रकार आस्तरण अर्थात् बिछौना आदि का बिना देखे और बिना शोधे धरना अनवेक्षाप्रमार्जितास्तरण नाम का अतीचार है ।

बिना देखे और बिना शोधे किसी जगह पर मलमूत्र आदि का विसर्जन करना अनवेक्षाप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है ।

यहां पर नहीं देखना और नहीं शोधना तो अविधि (अनाचार) है और यद्वा तद्वा देखना और यद्वा तद्वा शोधना अतीचार है। यह अर्थ अनवेक्षा और अप्रार्जन शब्दों में कुत्सा अर्थ में नञ्समास के करने से निकलता है । जैसे कि अब्राह्मण पद में किये गये नञ्समास का अर्थ ब्राह्मण का अभाव नहीं है, किन्तु कुत्सित ब्राह्मण है । वैसे ही अनवेक्षा और अप्रमार्जन शब्द में भी कुत्सित रीति से देखना और शोधना अतिचार है । बिल्कुल नहीं देखना वा बिल्कुल नहीं शोधना अतिचार नहीं, अनाचार हैं ।

अनादर—क्षुधादिक की वेदना से प्रोषधोपवास व्रत में अथवा अन्य आवश्यक कर्म में उत्साह का न होना अनादर नाम का अतिचार है ।

अनैकाग्र्य—क्षुधादिक की वेदना के कारण प्रोषधोपवास व्रत में या अन्य आवश्यक कर्म में चित्त का एकाग्र नहीं रहना अनैकाग्र्य नामका अतिचार है ॥४०॥

अतिथिसंविभाग व्रत का स्वरूप

व्रतमतिथिसंविभागः, पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं, दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥४१॥

अन्वयार्थौ—(दातृविशेषस्य) विशेषदाता का (फलविशेषाय) विशेषफल के लिए (विधिविशेषेण) विशेषविधि के द्वारा (पात्रविशेषाय)

विशेषपात्र के (द्रव्यविशेषवितरणम्) विशेषद्रव्य का दान करना (अतिथिसंविभागः) अतिथिसंविभाग (व्रतम्) व्रत [कथ्यते] कहलाता है।

भावार्थः—विशेष दाता द्वारा विशेष फल के लिए विशेषविधि के द्वारा विशेषपात्र के लिए विशेषद्रव्य का दान करना अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है ॥४१॥

विशेषार्थः—अतिथिसंविभाग व्रत के प्रतिपादन करने का यहाँ यह प्रयोजन है कि इसको अपने भोजन के पहले अतिथि की प्रतीक्षा करना ही चाहिए। इससे उसको अतिथि के न मिलने पर दान के फल में बाधा नहीं आती, किन्तु वह भावना के बल से ही दान के फल का अधिकारी हो जाता है। सम्=निर्दोष तथा निर्बाध। वि-भाग-अपने लिए बनाये हुए भोजन के अंश को अतिथि के लिए हिस्सा रखना अतिथिसंविभाग कहलाता है। सुयोग्य अतिथि के लिए सुयोग्य दाता द्वारा योग्य द्रव्य के देने से विशेषफल की प्राप्ति होती है। इसका खुलासा ग्रन्थकार ने आगे के पद्यों से स्वयं किया है ॥४१॥

निरुक्तिपूर्वक अतिथि का स्वरूप

ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनु – स्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम्।
यत्नेनातति गेहं वा, न तिथि र्यस्य सोऽतिथिः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (ज्ञानादिसिद्धियर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय) ज्ञानादिक की सिद्धि के हेतु शरीर की स्थिति के प्रयोजनभूत अन्न के लिए (स्वयम्) विना बुलाए (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक अर्थात् संयम की विराधना नहीं करके (गेहम्) दातार के घर को (अतति) जाता है (सः) वह (अतिथिः) अतिथि [कथ्यते] कहलाता है (वा) अथवा (यस्य) जिसके (तिथिः) पर्व तिथि आदि किसी का भी विचार [न स्यात्] नहीं होता (सः) वह (अतिथिः) अतिथि [कथ्यते] कहलाता है ॥४२॥

भाषार्थः—ज्ञानादिक की सिद्धि के उपायभूत शरीर की रक्षा के लिए (न कि शरीर की ममता के लिए) अपने संयम को सम्हालते हुए किसी के बिना बुलाए शास्त्रविहित आहार की आवश्यकता के लिए जो श्रावक के घर को यत्नाचारसहित गमन करता है उसे अतिथि कहते हैं अथवा तिथि और तिथि के उपलक्षण से पर्वदिवस और उत्सव दिवस का जिसके विचार नहीं होता वह अतिथि कहलाता है ।।४२।।

पात्र के स्वरूप और भेद

यत्तारयति जन्माब्धेः, स्वाश्रितान्यानपात्रवत् ।
मुक्त्यर्थगुणसंयोग - भेदात्पात्रं त्रिधा मतम् ।।४३।।

अन्वयार्थौ—(यत्) जो (यानपात्रवत्) जहाज की तरह (स्वाश्रितान्) अपने आश्रित प्राणियों को (जन्माब्धेः) संसार रूपी समुद्र से (तारयति) पार कर देता है (तत्) वह (पात्रम्) पात्र [कथ्यते] कहलाता है [च] और [तत्] वह (पात्रम्) पात्र (मुक्त्यर्थगुणसंयोग-भेदात्) मोक्ष के कारणभूत अथवा मोक्ष ही है प्रयोजन जिनका ऐसे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के सम्बन्ध के भेद से (त्रिधा) तीन प्रकार का (मतम्) माना गया है ।।४३।।

भाषार्थः—जैसे जहाज अपने आश्रितों को जलाशय से पार कर देता है वैसे ही जो दान के कर्त्ता, प्रेरक और अनुमोदक को संसार से पार करता है उसे पात्र कहते हैं। वह पात्र मोक्ष के लिए आवश्यक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी गुणों के संयोग के भेद से तीन प्रकार का है। अर्थात् उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से पात्र के तीन भेद हैं ।।४३।।

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं तं विजानीया—च्छेषमभ्यागतं विदुः ।।

पात्रों का विभाजन वा उनके लक्षण

यतिः स्यादुत्तमं पात्रं, मध्यमं श्रावकोऽधमम् ।
सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं, विशिष्टगुणयोगतः ॥४४॥

अन्वयार्थौ—(यतिः) मुनि (उत्तमम्) उत्तम (श्रावकः) श्रावक (मध्यमम्) मध्यम (सुदृष्टिः) असंयत सम्यग्दृष्टि (अधमम्) जघन्य (पात्रम्) पात्र (स्यात्) कहलाता है, तथा (विशिष्टगुणयोगतः) विशेषगुणों के सम्बन्ध से [एव] ही (तद्विशिष्टत्वम्) इन उत्तमादि पात्रों का परस्पर में या दूसरों से भेद (स्यात्) होता है ॥४४॥

भाषार्थः—मुनि उत्तमपात्र, श्रावक मध्यमपात्र और सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र हैं। इन तीनों में परस्पर जो विशेषता है वह सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्तिविशेष के कारण है ॥४४॥

विशेषार्थः—मुनियों में महाव्रत सहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। श्रावकों में देशव्रतसहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानहै। तथा सम्यग्दृष्टियोंमें व्रतरहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसलिये पात्रों के उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद होजाते हैं इनमें परस्पर यही विशेषता है। तथा ये तीनों ही पात्र, अपात्रों की अपेक्षा भी विशेषता रखते हैं। अर्थात् अपात्र तारक नहीं होता, किन्तु ये पात्र तारक होते हैं ॥४४॥

दान की विधि के प्रकार और विशेषता

प्रतिग्रहोच्चस्थानाङ्घ्रि - क्षालनार्चानती विंदुः ।
योगान्नशुद्धींश्च विधीन्, नवादरविशेषितान् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—[पूर्वाचार्याः] प्राचीनाचार्य (आदरविशेषितान्) यथायोग्य विनय के द्वारा विशेषता को प्राप्त हुये (प्रतिग्रहोच्चस्थानाङ्घ्रि-क्षालनार्चानतीः) प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार (च) और (योगान्नशुद्धीः) मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा अन्नशुद्धि (नव विधीन्) दान के नो प्रकारों को (विदुः) जानते हैं ॥४५॥

भाषार्थः—पात्र के लिये विशेष आदरपूर्वक नवधाभक्ति से जो आहार दिया जाता है उसे विधि-विशेष कहते हैं। प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनःशुद्धि, बचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा अन्नशुद्धि। पात्र को आहार देते समय यह नौ प्रकार की विधि (नवधाभक्ति) होती है ॥४५॥

विशेषार्थः—जब पात्र अपने द्वार पर आता है तब भक्ति पूर्वक प्रार्थना करना कि भोगुरो! मुझ पर कृपा कीजिये, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये, इस प्रकार से आहार के लिये पात्र का स्वागत करके स्वीकार करना प्रतिग्रह कहलाता है। जब पात्र अपने यहां भोजन ग्रहण करना स्वीकार कर ले तब उसे अपने घर के भीतर ले जाकर निर्दोष, निर्बाध उच्चस्थान पर बिठाना उच्चस्थान कहलाता है। भक्तिपूर्वक पात्र के पैर धोना पादप्रक्षालन कहलाता है। और अक्षत जल आदिक से पूजा करना पूजा कहलाती है। पञ्चाङ्ग नमस्कार करना नमस्कार कहलाता है।

आर्त वा रौद्र ध्यानरहित मन की अवस्था को मनःशुद्धि, परुष वा कर्कश आदि वचन नहीं बोलने को वचनशुद्धि तथा शरीर से संयत आचार करने को कायशुद्धि कहते हैं। यत्नपूर्वक शोध करके अनागार धर्मामृत के पिंडशुद्धि अधिकार में कहे गये १४ पिण्डसम्बन्धी दोषों से रहित आहार का नाम अन्नशुद्धि कहलाती है ॥४५॥

देयद्रव्य की विशेषता

पिण्डशुद्ध्युक्तमन्नादि-द्रव्यं वैशिष्ट्यमस्य तु।
रागाद्यकारकत्वेन, रत्नत्रयचयाङ्गता ॥४६॥

अन्वयार्थौ—(पिण्डशुद्ध्युक्तम्) अनागारधर्मामृत के पिण्डशुद्धि नामक पञ्चम अध्याय में कहा गया (अन्नादि) आहार वगैरह (द्रव्यम्) देने योग्य द्रव्य [कथ्यते] कहलाता है (तु) और (रागाद्यकारकत्वेन)

रागद्वेष आदि को उत्पन्न करने वाला नहीं होने से (रत्नत्रयचयाङ्गता) रत्नत्रय की वृद्धि का कारण पना (अस्य) इस देने योग्य द्रव्य की (वैशिष्ट्यम्) विशेषता [भवति] कहलाती है ॥४६॥

भाषार्थः—अनागारधर्मामृत के पाँचवें अध्याय के पिंडशुद्धि नामक अधिकार में बताये हुये चौदह दोषरहित आहार, औषधि, आवास, पुस्तक आदि द्रव्य पात्र के लिये देय पदार्थ हैं। और वे देय पदार्थ पात्र के लिये रागद्वेष, असंयम, मद तथा दुख आदिक का कारण न हों किन्तु रत्नत्रय की वृद्धि में कारण हों यह देय द्रव्य की विशेषता है ॥४६॥

दाता का लक्षण

भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टि—ज्ञानालौल्यक्षमागुणः ।
नवकोटीविशुद्धस्य, दाता दानस्य यः पतिः ॥४७॥

अन्वयार्थौ—(भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानालौल्यक्षमागुणः) भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा इन सात असाधारण गुण सहित (यः) जो श्रावक (नवकोटिविशुद्धस्य) मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना इन नौ कोटियों के द्वारा विशुद्ध (दानस्य) दान का अर्थात् देने योग्य द्रव्य का (पतिः) स्वामी [भवति] होता है [सः] वह (दाता) [इष्यते] कहलाता है ॥४७॥

भाषार्थः—मन, वचन और काय को कृत, कारित और अनुमोदना से गुणा करने पर नौ विकल्प होते हैं उनको 'नवकोटि' कहते हैं। अथवा देयशुद्धि और उसके लिये आवश्यक दातृशुद्धि तथा पात्रशुद्धि ये तीन, दातृशुद्धि और उसके लिए आवश्यक देय और पात्र की शुद्धि ये तीन तथा पात्रशुद्धि और उसके लिये उपयोगी पड़ने वाली देय और दाता की शुद्धि ये तीन इस प्रकार से भी 'नवकोटि' मानी गई हैं। इस नवकोटि की विशुद्धता जिस

दान में होती है उसे नवकोटि विशुद्ध दान कहते हैं । इस नवकोटि विशुद्ध दान का जो पति है अर्थात् उपयोग करने वाला है उसे दाता कहते हैं । भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा ये सात दाता के गुण हैं ॥४७॥

विशेषार्थः—१–पात्रगत गुण के अनुराग को भक्तिगुण कहते हैं । २—पात्र को दिये गये दान के फल में प्रतीति रखने को श्रद्धा कहते हैं । ३—जिससे दाता अल्प धनी होकर भी अपनी दान की वृत्ति से बड़े-बड़े धनाढ्यों को भी आश्चर्यान्वित करता है उसे सत्त्व कहते हैं । ४—देते समय अथवा दिये जाने पर जो हर्ष होता है उसे तुष्टि कहते हैं । ५—देने योग्य द्रव्यादिक की जानकारी रखने को ज्ञान कहते हैं । ६—दुर्निवार क्रोधादिक के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करना क्षमागुण कहलाता है । ७—सांसारिक फल की इच्छा का नहीं रखना अलौल्य कहलाता है ॥४७॥

दान का फल और उसकी विशेषता

रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तु–र्दातुः पुण्योच्चयः फलम् ।
मुक्त्यन्तचित्राभ्युदय – प्रदत्वं तद्विशिष्टता ॥४८॥

अन्वयार्थौ—(भोक्तुः) दान की गई वस्तु के भोक्ता के (रत्नत्रयोच्छ्रयः) रत्नत्रय की वृद्धि होना और (दातुः) दान देने वाले श्रावक के (पुण्योच्चयः) पुण्य के समूह की प्राप्ति होना अर्थात् बहुत पुण्यास्रव होना (फलम्) दान का फल [अस्ति] है । तथा (मुक्त्यन्तचित्राभ्युदय-प्रदत्वम्) मोक्ष है अन्त में जिसके ऐसे नानाप्रकार के और संसार में आश्चर्य को करने वाले इन्द्रादिक पद स्वरूप अभ्युदयों को देना (तद्विशिष्टता) दान के फल की विशेषता [विद्यते] है ॥५०॥

भावार्थः—दान का फल दाता और पात्र दोनों को मिलता है । दान के प्रभाव से दाता के पुण्यराशि की प्राप्ति होती है और

दान के ग्रहण से पात्रों के रत्नत्रय की उन्नति होती है। भोगभूमित्व, देवत्व, चक्रवर्तित्व, पारिव्राज्य आदि लोगों को विस्मय में डालने वाले अभ्युदय और अन्त में निर्वाण पद की प्राप्ति यह सब दान के फल की विशेषता है। दानके निमित्त से मोक्ष मार्गस्थ साधुओंके शरीर की स्थिति रहती है और उसके कारण वे अपनी आत्मविशुद्धि करके रत्नत्रय का पूर्ण विकास करते हैं ॥४८॥

विशेषार्थः—दान का मुख्यफल अन्त में मोक्षप्राप्ति और उसके पहिले विश्व में आश्चर्य पैदा करने वाले अभ्युदय हैं।

मुनिदान के प्रभाव के पंचसूनाजन्य पापों की निवृत्ति

पञ्चसूनापरः पापं, गृहस्थः सञ्चिनोति यत्।
तदपि क्षालयत्येव, मुनिदानविधानतः ॥४६॥

अन्वयार्थौ—(पञ्चसूनापरः) पांचसूना में प्रवृत्त [यः] जो (गृहस्थः) गृहस्थ (यत्) जिस (पापम्) पाप को (सञ्चिनोति) सञ्चित करता है [सः] वह गृहस्थ (मुनिदानविधानतः) मुनियों के लिए विधिपूर्वक दान देने से (तत्) उस पाप को (अपि) भी (क्षालयति एव) अवश्य नष्ट कर देता है ॥४६॥

भावार्थः—हिंसात्मक पंचसूनारूप क्रियाओं में प्रवृत्त रहने वाला गृहस्थ जिन पापों का सञ्चय करता है। वे सब पाप मुनिदान के प्रभाव से प्रक्षालित (दूर) हो जाते हैं ॥४६॥

विशेषार्थः—अपिशब्द के विस्मय और समुच्चय दो अर्थ हैं। विस्मयार्थकता से यह सूचित होता है कि—केवल मुनिदान के प्रभाव से गृहस्थ के आरम्भजनित सब पापों का नाश होता है। और समुच्चयार्थकता से यह निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भजनित पापों का भी नाश होता है और व्यापारादिजनित पापों का भी नाश होता है ॥४६॥

दान के करने, कराने वा अनुमोदन का फल

यत्कर्त्ता किल वज्रजङ्घनृपति र्यत्कारयित्री सती,
श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवर - व्याघ्रादयो यत्फलम् ।
आसेदु र्मुनिदानतस्तदधुना — प्याप्तोपदेशाब्दक-
व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः ॥५०॥

अन्वयार्थौ—(किल) आगम में इस प्रकार सुना जाता है कि (मुनिदानतः) मुनियों के लिए दान देने से (कर्त्ता) दान देने वाला (वज्रजङ्घनृपतिः) वज्रजङ्घनाम का राजा (यत्कारयित्री) जिस दान को कराने वाली (श्रीमती) श्रीमती नाम की (सती) सती (अपि) तथा (अनुमोदकाः) दान की अनुमोदना करने वाले (मतिवरव्याघ्रादयः) मतिवरमंत्री और व्याघ्र आदिक (यत्) जिस (फलम्) फल को (आसेदुः) प्राप्त हुए (तत्) वह मुनिदान का फल (अधुना) इस समय (अपि) भी (आप्तोपदेशाब्दकव्यक्तं सत्) आप्त के उपदेश रूपी दर्पण के द्वारा व्यक्त होता हुआ अर्थात् प्रतीति का विषय होता हुआ (कस्य) किस (भव्यात्मनः) भव्यजीव के (चेतसि) हृदय में (चमत्कारम्) आश्चर्य (न करोति) नहीं करता है ॥५०॥

भाषार्थः—उत्पलखेट नगर के राजा वज्रजंघ ने दान देकर, पुण्डरीकणी नगरी के वज्रदन्त चक्रवर्ती की पुत्री (उक्त वज्रजंघ राजा की रानी) श्रीमती ने दान की प्रेरणा करके और दान देते समय उपस्थित मतिवर नामक मन्त्री, आनन्दनामक पुरोहित, अकंपन नाम के सेनापति, धनमित्र नामक सेठ तथा व्याघ्र, सूकर, वानर और नकुल इन पुरुष तथा तिर्यंचों ने दान की अनुमोदना करके जो फल पाया है। जो कि आगमरूपी दर्पण के द्वारा आज भी जग जाहिर है। वह दान का फल किस भव्यात्मा के चित्त में चमत्कार (आश्चर्य) पैदा नहीं करता ॥५०॥

पात्रदाने फलं मुख्यं, मोक्षः सस्यं कृषेरिव ।
पलालमिव भोगास्तु, फलं स्यादानुषङ्गिकम् ॥

अतिथिप्रतीक्षा की विधि

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तु-मुद्युक्तोऽतिथये ददे।
स्वार्थं कृतं भक्तमिति, ध्यायन्नतिथिमीक्षताम् ॥५१॥

अन्वयार्थौ— अतिथिसंविभागव्रती] अतिथिसंविभागव्रत को पालन करने वाला श्रावक (माध्याह्निकम्) मध्याह्नकाल में होने वाले स्नान आदि सम्पूर्ण कार्यों को [कृत्वा) करके (भोक्तुम्) भोजन करने के लिए (उद्युक्तः) उद्यत या तत्पर होता हुआ (स्वार्थम्) अपने लिए (कृतम्) बनाये गये (भक्तम्) भोजन को [अहम्] मैं (अतिथये) अतिथि के लिए (ददे) दूँ (इति) इस प्रकार (ध्यायन्) चिन्तवन करता हुआ (अतिथिम्) अतिथि को (ईक्षताम्) प्रतीक्षा करे ॥५१॥

भावार्थः--मध्याह्न काल में होने वाले स्नानादि सम्पूर्ण कार्यों को करके भोजन के हेतु तत्पर श्रावक "अपने लिये बनाये गये भोजन को मैं अतिथि के लिये दूं" ऐसा चिन्तवन करता हुआ द्वारापेक्षण करे ॥५१॥

द्वारापेक्षण के समय करणीय विचार

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु, पात्रेभ्यो वितरन्ति ये।
धन्या ते इति च ध्याये-दतिथ्यन्वेषणोद्यतः ॥५२॥

अन्वयार्थौ—(अतिथ्यन्वेषणोद्यतः) अतिथि की खोज करने में तत्पर हुआ श्रावक (ये) जो गृहस्थ (अर्धतृतीयेषु) ढाई (द्वीपेषु) द्वीप में (पात्रेभ्यः) पात्रों के लिए (वितरन्ति) विधि के अनुसार दान देते हैं (ते) वे गृहस्थ (धन्याः) धन्य हैं (इति) इस प्रकार (च) भी (ध्यायेत्) चिन्तवन करे ॥५२॥

भावार्थः—अतिथिप्रतीक्षा करते समय यह भी चिन्तवन करे कि अढ़ाई द्वीप के भीतर सत्पात्रों के लिए जो दाता दान देते हैं वे धन्य (पुण्यवान) हैं ॥५२॥

संक्रान्ति के समय भूमि वगैरह के दान का निषेध

हिंसार्थत्वान्न भूगेह – लोहगोऽश्वादि नैष्ठिकः ।
न दद्याद् ग्रहसङ्क्रान्ति–श्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि ॥५३॥

अन्वयार्थौ—(नैष्ठिकः) नैष्ठिक श्रावक (हिंसार्थत्वात्) प्राणियों की हिंसा में निमित्त होने से (भूगेहलोहगोश्वादि) भूमि, घर, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा, वगैरह हैं आदि में जिनके ऐसे कन्या, सुवर्ण और अन्न आदि पदार्थों को (न दद्यात्) दान नहीं देवे । (च) और (सुदृग्द्रुहि) जिनको पर्व मानने से सम्यक्त्व का घात होता है ऐसे (ग्रहसंक्रान्तिश्राद्धादौ) ग्रहण, संक्रान्ति तथा श्राद्ध वगैरह में [स्वद्रव्यम्] अपने द्रव्य का (न दद्यात्) दान नहीं देवे ॥५३॥

भावार्थ:—ग्रहण और संक्रान्ति आदि के अवसर पर दिया गया दान मिथ्यात्व का पोषक है तथा भूमि, घर, गाय और कन्या आदि का दान देने से हिंसा होती है इसलिये नैष्ठिक को इनका दान नहीं करना चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थः—अन्य मतावलम्बियों ने ऐसी कल्पना की है कि सूर्य और चन्द्रके ऊपर ग्रहण पड़ने से संकट आता है । शनिवार के दिन जोषियों को दान देने से शनिग्रह का अरिष्ट दूर हो जाता है । जन्मकुण्डली में जो घातवार हो उसी दिन दान देने से घात का अरिष्ट दूर हो जाता है । ब्राह्मणों को भूमि आदिक जैसा दान दिया जायगा, परभव में वैसी ही सम्पत्ति आदि प्राप्त होती है । तीर्थविशेष में पिण्डदान करने से पिता आदि का तर्पण होता है । ऐसी कल्पना से दान देने से केवल मिथ्यात्व की ही पुष्टि होती है, लाभ नहीं । इसलिए नैष्ठिक को इनका दान नहीं करना चाहिए ।

समदत्ति में कन्यादान के समय जो भूमि और स्वर्ण आदिक का दहेज दिया जाता है उसका हेतु दम्पती के लिए अर्थ

पुरुषार्थ आदि का साधन कराना है। ऐसा करने से गृहस्थ को गृहस्थाश्रम के दान का श्रेय प्राप्त होता है। परन्तु जिस दान का यह प्रयोजन नहीं किन्तु, केवल दूसरों को देने मात्र से ही लोकव्यवहार में धर्म समझा जाता है और परिणाम में जिस दान के लेने वाले हिंसादिक करते हैं ऐसे भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान और लोहदान आदि भी नैष्ठिक श्रावक नहीं करे। निष्कर्ष यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र के घातक दान को नैष्ठिक श्रावक नहीं करे ॥५३॥

अतिथिसम्विभागव्रत के अतिचार

त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः।
सकालातिक्रम-पर — व्यपदेशश्च मत्सरः ॥५४॥

अन्वयार्थौ—[तद्व्रतिना] अतिथिसम्विभागव्रत के पालक श्रावक द्वारा (अतिथिदाने) अतिसंविभागव्रत में (सचित्तनिक्षेपः) देयवस्तु का सचित्त में रखना (तदावृतिः) सचित्त के द्वारा ढकना (च) और (सकलातिक्रमपरव्यपदेशः) कलातिक्रम वा परव्यपदेश सहित (मत्सरः) मात्सर्य [अमी] ये पाँच [अतिचाराः] अतिचार (त्याज्याः) छोड़े जाना चाहिए ॥५४॥

भाषार्थः—सचित्तनिक्षेप, सचित्तावृति, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सर ये पाँच अतिथिसम्विभागव्रत के अतिचार हैं। व्रती को इनका त्याग करना चाहिए ॥५४॥

सचित्तनिक्षेप--अतिथि को दान देते समय देय वस्तु का सचित्त पृथिवी और पत्ते वगैरह पर रख देना सचित्तनिक्षेप कहलाता है। सचित्तवस्तु पर निक्षिप्त वस्तु यति नहीं लेते। इसलिये उनका नहीं ग्रहण करना हमारा एक प्रकार का लाभ है। इस प्रकार तुच्छबुद्धि वाले दाता की देयपदार्थ में आदान की भावना रहती है, इसलिये यह सचित्तनिक्षेप अतिचार है।

सचित्तावृति--सचित्तपदार्थ से देय वस्तु के ढकने को सचित्तावृति कहते हैं। यह भी आदानभावना से अतिचार है अथवा सचित्तनिक्षेप तथा सचित्तावृति ये दोनों ही अज्ञान (अजानकारी) से होते हैं।

कालातिक्रम--आहार के समय का टालना कालातिक्रम कहलाता है। यह अतिचार अकाल में यतियों को आहार देने के अभिप्राय से द्वारापेक्षण करने से होता है। अथवा अकाल में भोजन करने से पात्रों को पड़गाहने के लिये खड़ा नहीं होना पड़ेगा इसलिये चर्या के काल को टालकर आगे पीछे भोजन करने वाले के भी यह कालातिक्रम नामक अतिचार होता है।

परव्यपदेश--देयवस्तु परकीय है, इस प्रकार व्याज से कहना अथवा अपने इष्टजनों को भी पुण्यलाभ हो इस अभिप्राय से देयवस्तु अमुक व्यक्ति की है इस अभिप्राय से देना भी परव्यपदेश कहलाता है।

मत्सर--पात्रप्रतीक्षा के समय क्रोधभाव रखना जैसे 'मैं प्रतिदिन खड़ा होता हूँ, फिर भी मेरे यहां कोई पात्र नहीं आता। अथवा मैं कितनी देर से खड़ा हूँ, तो भी अभी तक कोई पात्र मेरे यहां नहीं आया' ऐसी भावना रखना मत्सर कहलाता है। अथवा यति को पड़गाह लेने पर भी अपने पास रखे हुये देय पदार्थ का समर्पण नहीं करना भी मत्सर है। अर्थात् देने पर भी आदर नहीं करना, अन्यदाता के दान को नहीं सह सकना तथा दूसरे के दान में वैमनस्य रखना मत्सर अतिचार है ॥५४॥

महाश्रावक की योग्यता के साधन

एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला—
न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनो, दीप्राप्तवाग्दीपकः।
वैयावृत्यपरायणो गुणवतां, दीनानतीवोद्धरँ—
श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः, सः स्यान्महाश्रावकः ॥५५॥

अन्वयार्थौ—(एवम्) इस प्रकार (व्रतानि) पाँचों अणुव्रतों को (पालयितुम्) पालन करने के लिए (अमलानि) अतिचार रहित (सप्तशीलानि) सातों शीलों को (विदधत्) पालन करने वाला (समितिषु) ईर्या आदि पाँचों समितियों में (आगूर्णः) उद्यत (अनारतमनोदीप्राप्त-वाग्दीपकः) निरन्तर मन में देदीप्यमान है आप्त के वचन से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान रूपी दीपक जिसके ऐसा (गुणवताम्) गुणी पुरुषों के (वैय्यावृत्यपरायणः) वैय्यावृत्य करने में तत्पर तथा (अतीव) पाक्षिकादिक की अपेक्षा अधिक रूप से (दीनान्) दीन पुरुषों को (उद्धरन्) दुःख से छुड़ाने वाला (यः) जो गृहस्थ (इमाम्) आगे के अध्याय में कही जाने वाली इस (दैवसिकीम्) दिनरात सम्बन्धी (चर्याम्) चर्या को (चरति) पालन करता है (सः) वह गृहस्थ (महाश्रावकः) महाश्रावक (स्यात्) कहलाता है ॥५५॥

भावार्थः—सम्यग्दर्शन सहित, अणुव्रतों का निरतिचार-पालक, जिनागम का उपासक, वैयावृत्यपरायण, दीनोद्धारक और षष्ठाध्यायोक्त दिनचर्या का पालक व्यक्ति इन्द्रादिक से पूज्य महाश्रावक के पद को पाता है। यह महत्त्वशाली महाश्रावकपद कालादि लब्धि के निमित्त से किसी महान व्यक्ति को ही प्राप्त होता है।

विशेषार्थः—सम्यग्दर्शनशुद्धत्व, व्रतभूषित्व, जिनागमसेवित्व, निर्मलशीलनिधित्व, संयमनिष्ठत्व, गुरुशुश्रूषकत्व, दयापरत्व और दिनचर्यापालकत्व ये आठ गुण जिसके होते हैं वह महाश्रावक कहलाता है।

अणुव्रत और महाव्रत यदि समितिसहित हों तो संयम कहलाते हैं और समितिरहित हों तो विरति कहलाते हैं। तदुक्तम्-
अणुवयमहव्वयाइं समिदीसहिदायिं संजमो समिदिहिं विणा विरदि इति।

इत्याशाधरविरचिते विजयाटीकोपेते सागारधर्मामृते उत्तरभागे
पञ्चमाध्यायः समाप्तः।

षष्ठ अध्याय

पाक्षिक श्रावक के पूर्वाह्न समय का कर्त्तव्य

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं, व्रतं चेति परामृशेत् ॥१॥

अन्वयार्थौ—(ब्राह्मे) ब्राह्म (मुहूर्त्ते) मुहूर्त्त में (उत्थाय) उठ करके (वृत्तपञ्चनमस्कृतिः) पढ़ा है पंचनमस्कार मंत्र जिसने ऐसा [श्रावकः] श्रावक (अहम्) मैं (कः) कौन [अस्मि] हूँ (मम) मेरा (धर्मः) धर्म (कः) कौन [अस्ति] है (च) और (मम) मेरा (व्रतम्) व्रत (किम्) कौन [अस्ति] है (इति) इस प्रकार (परामृशेत्) चिन्तवन करे ॥१॥

भाषार्थः—श्रावक शय्या से ब्राह्म मुहूर्त्त में उठे और सर्व-प्रथम पंचनमस्कार मन्त्र का स्मरण करे। फिर मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है और मेरा व्रत क्या है ? इत्यादि चिन्तवन करे ॥१॥

विशेषार्थः—ब्राह्मी (सरस्वती) जिसकी देवता है उसे ब्राह्म कहते हैं। सूर्योदय से दो घड़ी के पेश्तर के समय को ब्राह्ममुहूर्त्त कहते हैं। मैं कौन हूँ ? ब्राह्मण हूँ या क्षत्रिय; इक्ष्वाकुवंशी हूँ या अन्यवंशी, मेरा धर्म क्या है ? मैं अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक या यति कौन हूँ ? इत्यादि चिन्तवन करे। "च" शब्द से मेरे गुरु कौन हैं ? मेरा नगर ग्राम आदिक कौन है ? यह काल कौन है ? मैं प्रमाता हूँ ? अमुक प्रमेय है इत्यादि का भी चिन्तवन करना चाहिए ऐसा ध्वनित होता है। क्योंकि ऐसे चिन्तवन से अपने वर्णादिक के विरुद्ध पड़ने वाले आचार के सुधारने में सुगमता होती है। निष्कर्ष यह है कि ब्राह्ममुहूर्त में मल का पाक होता है और नीरोग तथा आरोग्यवर्धक वायु का संचार होता है। इससे शरीर और मन प्रसन्न रहता है इसलिए इस समय बुद्धि की निर्म-

लता दिन वा रात के समय से अधिक रहती है ऐसे समय में निश्चित किये हुए विचार अत्यन्त कार्यकारी होते हैं ॥१॥

जैनधर्म की दुर्लभता

अनादौ बम्भ्रमन् घोरे, संसारे धर्ममार्हतम् ।
श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात्, किलाप्तं तदिहोत्सहे ॥२॥

अन्वयार्थौ—(किल) आगम में इस प्रकार सुना जाता है कि (घोरे) भयङ्कर [च] और (अनादौ) आदि रहित (संसारे) संसार में (बम्भ्रमन्) कुटिलरीति से घूमने वाले [अहम्] मैंने (आर्हतम्) वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित (श्रावकीयम्) श्रावकसम्बन्धी (इमम्) इस (धर्मम्) धर्म को (कृच्छ्रात्) बड़ी कठिनाई से (आप्तम्) पाया है (तत्) इसलिए (इह) इस अत्यन्त दुर्लभ धर्म के विषय में (उत्सहे) प्रमादरहित होकर प्रवृत्त होता हूँ ॥२॥

भावार्थः—भयङ्कर और पंचपरावर्त्तन रूप अनादि संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित श्रावकीय धर्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त कर पाया है इसलिए मुझे इसमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए ॥२॥

कृतिकर्म (बन्दना) का विधान

इत्यास्थायोत्थितस्तल्पा–च्छुचिरेकायनोऽर्हतः ।
निर्मायाष्टतयीमिष्टिं, कृतिकर्म समाचरेत् ॥३॥

अन्वयार्थौ—(इति) इस प्रकार (आस्थाय) प्रतिज्ञा करके (तल्पात्) शय्या से (उत्थितः) उठा (शुचिः) पवित्र [च] और (एकायनः) एकाग्रमन [सन्] होता हुआ (अर्हतः) अरिहन्त भगवान् की (अष्टतयीम्) जलगन्धादिक आठ अवयव वाली (इष्टिम्) पूजा को (निर्माय) करके (कृतिकर्म) वन्दना आदि करणीय कार्यों को (समाचरेत्) भली भांति करे ॥३॥

भाषार्थ:—इस प्रकार द्वितीय पद्य के अनुसार प्रतिज्ञा कर के शय्या से उठ कर शौच, मुखशुद्धि और स्नान आदिक से निवृत्त होकर एकाग्रमन होकर अरिहन्त भगवान की पूजा करके बन्दना आदि कर्त्तव्यों को करे ॥३॥

विशेषार्थः—योग्य काल में, योग्य आसन से, योग्य स्थान में, सामायिक के योग्य मुद्रा धारण करके, चारों दिशाओं में तीन तीन आवर्त और एक एक नमस्कार कर अपने पद के योग्य वस्त्रादिक रख कर शेष आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके विधिपूर्वक सामायिक करना कृतिकर्म कहलाता है ॥३॥

भोगोपभोग का प्रत्याख्यान तथा इष्ट की अभिलाषा

समाध्युपरमे शान्ति—मनुध्याय यथाबलम् ।
प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं, प्रार्थ्य गन्तुं नमेत्प्रभुम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—[कृतक्रियः श्रावकः] वन्दना आदि कर्मों को करने वाला श्रावक (समाध्युपरमे) समाधि की निवृत्ति होने पर (शान्तिम्) शान्तिपाठ को (अनुध्याय) चिन्तवन करके (यथाबलम्) अपनी शक्ति के अनुसार (प्रत्याख्यानम्) भोगोपभोग सम्बन्धी नियमविशेष को (गृहीत्वा) ग्रहण करके (इष्टम्) अभिलषित पदार्थ को (प्रार्थ्य) प्रार्थना करके (गन्तुम्) गमन करने के लिये (प्रभुम्) अरिहन्त देव को (नमेत्) नमस्कार करे। अर्थात् विसर्जन करे ॥४॥

भाषार्थः—वन्दनादिरूप कृतिकर्म (सामायिक) करके ये ऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः" इत्यादि शांति पाठ पढ़ कर अपनी शक्ति के अनुसार दिन भर के लिये भोगोपभोगों का नियम करके "शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः" इत्यादि पद्य के द्वारा इष्टप्रार्थना पढ़े तथा "पुनर्दर्शन होवें वा समाधिमरण की प्राप्ति होवे" इस प्रकार प्रार्थना करके पूजन का विसर्जन करे ॥४॥

विशेषार्थः—पूर्वकाल में प्रायः प्रत्येक घर में चैत्यालय होते थे। दक्षिण में आज भी यही प्रथा है। इसलिये पहले घर के चैत्यालय में पूजन, सामायिक, शान्तिपाठ, इष्टप्रार्थना और विसर्जन कर पश्चात् बड़े मन्दिर में जाना चाहिये ॥४॥

जिनालय को गमन करते समय का विचार

साम्यामृतसुधौतान्त – रात्मराजज्जिनाकृतिः ।
दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये, ध्यायन्गच्छेज्जिनालयम् ॥५॥

अन्वयार्थौ—(साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिनाकृतिः) समता परिणामरूप अमृत के द्वारा अच्छी तरह विशुद्धि को प्राप्त हुये अन्तरात्मा में देदीप्यान है परमात्मा की मूर्ति जिसके ऐसा [श्रावकः] श्रावक (ऐश्वर्य-दौर्गत्ये) ऐश्वर्य और दारिद्र्य (दैवात्) पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म के उदय से [जायेते] होते हैं [इत्थम्] इस प्रकार (ध्यायन्) चिन्तवन करता हुआ (जिनालयम्) जिनालय को (गच्छेत्) जावे ॥ ५ ॥

भाषार्थः—सामायिक के द्वारा जिसका अन्तःकरण भेदविज्ञान युक्त है और इसी कारण जिसके अन्तःकरण में जिनेन्द्र भगवान की आकृति विराजमान है वह भव्य ऐश्वर्य (अमीरी) और दारिद्र्य (गरीबी) दोनों दैवी लीला के फल हैं, इनमें हर्ष विषाद से लाभ नहीं। इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ दर्शन के हेतु जिनालय को जावे ॥५॥

जिनालय को जाने की विधि

यथाविभवमादाय, जिनाद्यर्चनसाधनम् ।
व्रजन्कौत्कुटिको देश – संयतः संयतायते ॥६॥

अन्वयार्थौ—(यथाविभवम्) अपनी सम्पत्ति के अनुसार (जिना-द्यर्चनसाधनम्) अरिहन्तादिक की पूजन के साधनभूत जल गन्धादिक को (आदाय) ग्रहण करके (कौत्कुटिकः) आगे चार हाथ जमीन देखता

हुआ (व्रजन्) गमन करने वाला (देशसंयतः) देशसंयमी श्रावक (संयतायते) मुनि के समान आचरण करता है ॥६॥

भाषार्थः—अपनी सम्पत्ति के अनुसार पूजन की सामग्री लेकर चार हाथ आगे जमीन देखता हुआ ईर्यासमितिपूर्वक दर्शन के हेतु मन्दिर जी को जाने वाला देशसंयमी ईर्यासमिति-पालक यति के समान मालूम होता है ॥६॥

चैत्यालयध्वजादर्शन से आनन्द और अर्हच्चिन्तवन का फल

दृष्ट्वा जगद्बोधकरं, भास्करं ज्योतिरार्हतम् ।
स्मरतस्तद्गृहशिरो - ध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—(जगद्बोधकरम्) जगत के प्राणियों की निद्रा को दूर करने वाले (भास्करम्) सूर्य को (दृष्ट्वा) देख कर (आर्हतम्) अरिहन्त भगवान सम्बन्धी (जगद्बोधकरम्) बहिरात्मा प्राणियों की मोहरूपी निद्रा को दूर करने वाले (ज्योतिः) ज्ञानमय अथवा वचनमय तेज को (स्मरतः) स्मरण करने वाले [श्रावकस्य] श्रावक के (तद्गृहशिरो-ध्वजालोकोत्सवः) जिनेन्द्र भगवान के चैत्यालय की शिखिर में लगी ध्वजा के देखने से उत्पन्न होने वाला आनन्द (अघहृत्) पापनाशक [भवति] होता है ॥७॥

भाषार्थः—उक्त विधि से प्रातःकाल जिनमन्दिर जी को जाने वाला श्रावक सूर्य को देख कर इस प्रकार चिन्तवन करे कि जैसे सूर्य अपनी किरणों के प्रकाश से; प्रकाश में अपने अपने व्यवहार को सम्पादन करने वाले प्राणियों का मार्गदर्शक है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान भी अपनी ज्ञानात्मक और वचनात्मक किरणों से संसार के बहिरात्मा प्राणियों की मोहनिद्रा के नाशक हैं। इस प्रकार चिन्तवन करने वाले भव्य के चित्त में भगवान के मन्दिर की ध्वजा के दर्शन से जो आनन्दोत्सव होता है उसके उसके पापों का नाश होता है ॥७॥

जिनमन्दिर में प्रवेश की विधि

वाद्यादिशब्दमाल्यादि-गन्धद्वारादिरूपकैः।
चित्रैरारोहदुत्साह-स्तं विशेन्निःसहीगिरा ॥८॥

अन्वयार्थौं—(चित्रैः) नानाप्रकार और विस्मय को करने वाले (वाद्यादिशब्दमाल्यादिगन्धद्वारादिरूपकैः) प्रभातकाल सम्बन्धी वादित्र आदि के शब्दों के द्वारा, चम्पा गुलाव आदि के फूलों की गन्ध के द्वारा तथा द्वारतोरण और शिखर पर बने हुए चित्रों द्वारा (आरोहदुत्साहः) वृद्धि को प्राप्त हुआ है धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसका ऐसा [श्रावकः] श्रावक (निःसहीगिरा) निःसही इन वचन के द्वारा अर्थात् निःसही इस वचन का उच्चारण करके (तम्) उस जिनालयमें (विशेत्) प्रवेश करे।

भाषार्थः—दर्शनार्थी श्रावक घंटा, झालर, जयघोष, स्तुति और स्वाध्याय आदि के शब्द से तोरण की वन्दनवार आदि में लगे हुए नानाप्रकार की पुष्पमालाओं से, धूप आदि की सुगन्ध से तथा प्रवेशद्वार, खम्भों वा शिखर पर अंकित नानाप्रकार के चित्रों से अपने अन्तःकरण में उत्साहसम्पन्न होकर निःसही निःसही निःसही इस प्रकार तीन वार उच्चारण करता हुआ जिनमन्दिर में प्रवेश करे ॥८॥

जिनमन्दिर के भीतर जाकर करणीय विधि

क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्तः, प्रविश्यानन्दनिर्भरः।
त्रिःप्रदक्षिणयेन्नत्वा, जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥९॥

अन्वयार्थौं—(क्षालिताङ्घ्रिः) धोये हैं पैर जिसने ऐसा [च] और (आनन्दनिर्भरः) आनन्द के द्वारा व्याप्त हो गया है सम्पूर्ण अङ्ग जिसका ऐसा [असौ] यह श्रावक (तथा) उसी प्रकार अर्थात् निःसही इस शब्द को उच्चारण करता हुआ (एव) ही (अन्तः) चैत्यालय के मध्य

में (प्रविश्य) प्रवेश करके (पुण्याः) पुण्यास्रव को करने वाली (स्तुतीः) स्तुतियों को (पठन्) पढ़ता हुआ (त्रिः) तीन वार (प्रदक्षिणयेत्) प्रदक्षिणा करे ॥६॥

भाषार्थः—श्रावक जिनालय में प्रवेश करते समय अपने पैर धोवे और तीन वार निःसही कह कर आनन्द से गद्गद् होता हुआ भीतर जावे। आनन्द से गद्गद् होकर जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करे। तथा पाप का क्षालन करने वाली, अशुभ कर्मों की निर्जरा करने वाली और पुण्यास्रव को बढ़ाने वाली स्तुति को पढ़ते हुए तीन वार प्रदक्षिणा देवे ॥६॥

जिनमन्दिर में प्रदक्षिणासमय का विचार

सेयमास्थायिका सोऽयं, जिनस्तेऽमी सभासदः।
चिन्तयन्निति तत्रोच्चै-रनुमोदेत धार्मिकान् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—(इयम्) यह चैत्यालय की भूमि (सा) वही जिनागम प्रसिद्ध (आस्थायिका) समवसरण (अयम्) ये प्रतिमार्पित जिनेन्द्र (सः) वही आगम प्रसिद्ध (जिनः) अरिहन्त [च] तथा (अमी) ये जिनाराधक भव्य (ते) वे आगमप्रसिद्ध (सभासदः) बारह सभाओं के सभासद [सन्ति] हैं (इति) इस प्रकार (चिन्तयन्) विचार करनेवाला श्रावक (तत्र) उस चैत्यालय में या प्रदक्षिणा के समय (धार्मिकान्) धर्माराधक भव्यों को (उच्चैः) वार वार (अनुमोदेत) अभिनन्दन करे ॥१०॥

भाषार्थः—जिनमन्दिर में प्रवेश अथवा प्रदक्षिणा करते समय यह विचार करे कि यह चैत्यालय वही आगमप्रसिद्ध समवसरण है, यह जिनप्रतिमा ही वही जिनागमप्रसिद्ध अष्ट प्रतिहार्यविभूषित जिनेन्द्र भगवान हैं और ये जिनप्रतिमा के आराधक ही द्वादश सभा के सभासद हैं। तथा यह श्रावक वहाँ बैठे हुए धर्माराधक भव्यों का पुनः पुनः अभिनन्दन करे ॥१०॥

गृहचैत्यालयगृहीत नियम का प्रकाशन

अथेर्यापथसंशुद्धिं, कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे, प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥११॥

अन्वयार्थौ—(अथ) इसके अनन्तर [एषः] यह [महाश्रावकः] महाश्रावक (ईर्यापथसंशुद्धिम्) ईर्यापथशुद्धि अथवा प्रतिक्रमण को (कृत्वा) करके (जिनेश्वरम्) जिनेन्द्र भगवान को (श्रुतम्) जिनवाणी को (च) और (सूरिम्) आचार्य को (अभ्यर्च्य) पूज करके (तस्य) उस आचार्य के (अग्रे) समक्ष (प्रत्याख्यानम्) घरके चैत्यालय में पहले ग्रहण किये हुए नियम विशेष को (प्रकाशयेत्) प्रगट करे ॥११॥

भाषार्थः—प्रदक्षिणा के बाद ईर्यापथशुद्धि अर्थात् प्रतिक्रमण करके जिनवाणी और गुरु की पूजा करे। यह इसकी जघन्य बंदना-विधि है। उत्तमरीति से बन्दनाविधि तो वह घर के चैत्यालय में कर आया है। इस प्रकार बड़े मन्दिर जी में बन्दनाविधि करके घर के चैत्यालय में पहले जो प्रत्याख्यान किया था (प्रतिज्ञा की थी) वह गुरु और जनता के सामने यहाँ प्रगट करे॥११॥

विशेषार्थः—ईर्यापथ से चलते हुये भी मेरे द्वारा आज प्रमाद से किसी भी काय के जीवों को यदि बाधा पहुँचाई गई हो अर्थात् चार हाथ शोध कर चलने में गलती हुई हो वह सब गुरुभक्ति के प्रभाव से मिथ्या होवे ऐसे चिन्तवन को ईर्यापथशुद्धि कहते हैं। तदुक्तम् —

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादाद्, एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेद् युगान्तरे वा, मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ॥

चैत्यालयस्थ धार्मिकों के प्रोत्साहन की विधि

ततश्चावर्जयेत्सर्वान्, यथार्हं जिनभाक्तिकान् ।
व्याख्यातः पठतश्चार्हद्-वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(ततः) इसके अनन्तर [असौ] यह श्रावक (यथार्हम्) यथायोग्य आदर विनय के द्वारा (सर्वान्) सम्पूर्ण (जिनभाक्तिकान्) अरिहन्त के आराधकों को (आवर्जयेत्) प्रसन्न करे (च) तथा (अर्हद्वचः) जिनागम को (व्याख्यातः) व्याख्यान करने वालों को (च) और (पठतः) अध्ययन करने वालों को [अपि] भी (मुहुः) वार वार (प्रोत्साहयेत्) उत्साहित करे ॥१२॥

भाषार्थः—प्रत्याख्यान को प्रगट करने के बाद यह श्रावक यथायोग्य आदर वा विनय के द्वारा अरिहन्त भगवान के सम्पूर्ण आराधकों को प्रसन्न करे तथा जिनागम के व्याख्याताओं और अध्ययनकर्त्ताओं को उत्साहित करे ॥१२॥

विशेषार्थः—मुनियों को नमोऽस्तु, आर्यिकाओं और क्षुल्लकों को वन्दे तथा श्रावकों को इच्छामि कह कर विनय करे ॥१२॥

स्वाध्याय करने और विपत्ति के विनाश करने का उपदेश

स्वाध्यायं विधिवत्कुर्या-दुद्धरेच्च विपद्धतान् ।
पक्वज्ञानदयस्यैव, गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—(ततः) इसके अनन्तर [असौ] यह महाश्रावक (विधिवत्) विधि के अनुसार (स्वाध्यायम्) स्वाध्याय को (कुर्यात्) करे (च) और (विपद्धतान्) विपत्ति से पीड़ित दीन प्राणियों को (उद्धरेत्) विपत्ति से दूर करे । (यतः) क्योंकि (पक्वज्ञानदयस्य) विशेषज्ञानी और दयालु व्यक्ति के (एव) ही (सर्वे) सब (गुणाः) गुण (सिद्धिदाः) इच्छापूर्तिकारक [भवन्ति] होते हैं ॥१३॥

भाषार्थः—व्यञ्जनशुद्धि आदि ज्ञानाभ्यास की विधि के अनुसार स्वाध्याय (श्रुताध्ययन) करे तथा असाता के उदय से

अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्, विरतौ विनयक्रिया ।
अन्योऽन्यं क्षुल्लके चार्ह—मिच्छाकारवचः सदा ॥

जिनकी मानसिक और शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई है उन दीनों का उद्धार करे। क्योंकि जिनका ज्ञान और दया पक्व हैं उनके ही सब गुण इष्टसम्पादन में समर्थ होते हैं ॥१३॥

विशेषार्थः—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये भी स्वाध्याय ही हैं, इन्हें भी श्रावक अवश्य करे। ज्ञान=तत्त्वावबोध, दया=दुःखों के उच्छेद की अभिलाषा। ज्ञान और दया जिनके पक्व हैं उन्हें पक्वज्ञानदय कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के सर्व गुण इष्टसिद्धि में समर्थ होते हैं ॥१३॥

जिनमन्दिर में निषिद्ध क्रियाएँ

मध्ये जिनगृहं हासं, विलासं दुःकथां कलिम् ।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं, चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—[असौ] यह महाश्रावक (मध्ये जिनगृहम्) जिन मन्दिर में (हासम्) हँसी को (विलासम्) शृङ्गारयुक्तचेष्टा को (दुःकथाम्) खोटी कथाओं को (कलिम्) कलह को (निद्राम्) निद्राको (निष्ठ्यूतम्) थूकने को (अपि) और (चतुर्विधम्) चारों प्रकार के (आहारम्) आहार को (त्यजेत्) छोड़े ॥१४॥

भावार्थः—जिनमन्दिर में हँसी, शृङ्गारयुक्त चेष्टाएँ, विकथाएँ, कलह, निद्रा, थूकना और खाद्य वा पेय आदि चार प्रकार के आहार वगैरह नहीं करना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थः—दिनचर्या का यह वर्णन महाश्रावक की अपेक्षा से है। इसलिए " मध्ये जिनगृहम् " पद का अर्थ "सब प्रकार के जिनालयों में" करना चाहिए। तथा जो महाश्रावक नहीं है उसकी अपेक्षा "गन्धकुटी" अर्थ लेना चाहिए। जहाँ जिन भगवान् की मूर्ति विराजमान होती है, जिनमन्दिर के उस स्थान को गन्धकुटी कहते हैं ॥१४॥

अर्थोपार्जन की विधि

ततो यथोचितस्थानं. गत्वाऽर्थे ऽधिकृतान् सुधीः ।
अधितिष्ठेद् व्यवस्येद्वा, स्वयं धर्माविरोधतः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(ततः) इसके अनन्तर (सुधीः) हित और अहित का विवेकी श्रावक (यथोचितस्थानम्) द्रव्योपार्जन योग्य दुकान आदि स्थानों को (गत्वा) जाकर (अर्थे) द्रव्य का उपार्जन करने में [अधिकृतान्] नियुक्त किये गये व्यक्तियों को (अधितिष्ठेत्) सनाथ करे। अर्थात् उनकी वा उनके कार्यों की देख रेख करे (वा) अथवा (धर्माविरोधतः) अपने धर्म की रक्षा का लक्ष्य कर के (स्वयम्) खुद (व्यवस्येत्) व्यवसाय करे।

भाषार्थः—हानि और लाभ का जानकार श्रावक अपने योग्य अर्थोपार्जन के स्थानों पर जाकर अर्थोपार्जन, अर्थसंरक्षण और अर्थसंवर्धन के लिए नियुक्त अधिकारियों के कार्य का निरीक्षण करे। परन्तु जिसकी आर्थिक स्थिति अन्य कर्मचारियों के द्वारा धनोपार्जन आदि करने के योग्य नहीं है वह स्वयं अर्थ के उपार्जन, संरक्षण और संवर्धन में प्रवृत्ति करे। परन्तु प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को धर्माविरोध से ही धन कमाने, रखाने और बढ़ाने में प्रवृत्त होना चाहिये ॥१५॥

विशेषार्थः—गरीब, अमीर, प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित और उच्च, नीच में माध्यस्थ भाव रख कर न्याय करना राजा का कर्तव्य है। जिससे राजा और प्रजा का हित हो ऐसा व्यवहार करना राज्याधिकारी का कर्तव्य है। और लेन देन में हीनाधिक माप तौल नहीं करना तथा निषिद्ध वनजीविका वगैरह नहीं करना व्यापारी का कर्तव्य है। यह ही धर्माविरुद्ध अर्थोपार्जन है ॥१५॥

पुरुषार्थ की सफलता और विफलता में हर्ष विषाद का निषेध

निष्फले ऽल्पफलेऽनर्थ—फले जाते ऽपि पौरुषे ।
न विषीदेन्नान्यथा वा, हृष्येल्लीला हि सा विधेः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—[असौ] द्रव्योपार्जन करने में तत्पर यह श्रावक (पौरुषे) पुरुषार्थ के (निष्फले) विफल (अल्पफले) अल्पफल वाले (अपि) और (अनर्थफले) वृथा फल वाले (जाते) होने पर (न विषीदेत्) विषाद नहीं करे। तथा (अन्यथा) इससे विपरीत होने पर (न हृषेत्) हर्ष नहीं करे (हि) क्योंकि (सा) पुरुषार्थ को सफल या निष्फल आदि बनाने वाली निरंकुश प्रवृत्ति (विधेः) पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप कर्म की (लीला) करामात [अस्ति] है ॥१६॥

भावार्थः—अर्थोपार्जन के लिए कृत पुरुषार्थ निष्फल हो जावे; आशा की अपेक्षा कम फल मिले, अपेक्षा से बहुत अधिक फल मिल जावे, अथवा बिलकुल विफल हो जावे, तो भी श्रावक को हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह सफलता और असफलता आदि पुरुषार्थ का फल नहीं है किन्तु पूर्वोपार्जित शुभा-शुभ कर्मजनित है। इसलिए उसमें हर्ष विषाद नहीं करना चाहिए।

भोजन को जाते समय श्रावक की भावना

कदा माधुकरी वृत्तिः, सा मे स्यादिति भावयन् ।
यथालाभेन सन्तुष्टः, उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥१७॥

अन्वयार्थौ—(सा) वह जिनागम में वर्णित (माधुकरी) माधुकरी-नामक (वृत्तिः) भिक्षावृत्ति (मे) मेरे (कदा) किस समय (स्यात्) होगी (इति) इस प्रकार (भावयन्) चिन्तवन करने वाला [असौ] यह श्रावक (यथालाभेन) जितना धन मिला हो उतने ही धन से (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट होता हुआ (तनुस्थितौ) शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक रखने में कारणभूत भोजनादिक की प्रवृत्ति में (उत्तिष्ठेत) उद्यम करे।

भावार्थः—अर्थोपार्जन के काल में जो कुछ भी लाभ हुआ हो उससे सन्तुष्ट होकर 'मुझे मुनियों के समान माधुकरी वृत्ति कब प्राप्त होगी (आगमोक्त भिक्षावृत्ति की योग्यता का लाभ कब

होगा) इस प्रकार' भावना भाता हुआ अपने शारीरिक स्वास्थ्य के हेतु (न कि आसक्ति से) भोजन के लिये घर जावे ॥१७॥

विशेषार्थः—मधुकर = भ्रमर। जैसे भ्रमर पुष्पों को त्रास न देकर उनका रस चूसता है वैसे ही दाताओं को किसी प्रकार कष्ट न देकर अपने शरीर की स्थिरता के लिये जो भोजन लिया जाता है उसे माधुकरीवृत्ति कहते हैं।

श्रावक के द्वारा भक्षणीय पदार्थ

नीरगोरसधान्यैधः-शाक—पुष्पाम्बरादिभिः।
क्रीतैः शुद्ध्यविरोधेन, वृत्तिः कल्प्याघलाघवात् ॥१८॥

अन्वयार्थौ—[श्रावकेण] श्रावक के द्वारा (शुद्ध्यविरोधेन) अपने द्वारा गृहीत सम्यक्त्व और व्रतों का घात नहीं करके (क्रीतैः) मूल्य देकर खरीदे गये (नीरगोरसधान्यैधःशाकपुष्पाम्बरादिभिः) जल, गोरस, धान्य, लकड़ी, शाक, फूल और वस्त्र आदिक द्वारा (अघलाघवात्) पापों की लघुतापूर्वक (वृत्तिः) अपने शरीर के निर्वाह का व्यापार (कल्प्या) किया जाना चाहिये ॥१८॥

भावार्थः—श्रावकों को मूल्य देकर खरीदे हुये पानी, गोरस, धान्य, ईन्धन, शाक, पुष्प और वस्त्र आदि से पापों का बचाव रखते हुये इस प्रकार से अपनी वृत्ति सम्पादन करना चाहिये जिस से अपने सम्यग्दर्शन और गृहीत व्रतों में अतीचार नहीं लगे।१८।

जीमनवार वा रात्रिसिद्ध भोजन के खाने का निषेध

सधर्मिणो ऽपि दाक्षिण्याद्, विवाहादौ गृहेऽप्यदन्।
निशि सिद्धं त्यजेद् दीनै-र्व्यवहारं च नावहेत् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—(दाक्षिण्यात्) व्यवहारनिर्वाह के प्रयोजन से (सधर्मिणः) साधर्मी भाइयों के (गृहे) घर में, तथा (विवाहादौ) विवाह आदिक में (अपि) भी (अदन्) भोजन करने वाला [असौ]

यह महाश्रावक (निशि) रात्रि में (सिद्धम्) बनाये गये भोजन को (त्यजेत्) छोड़े, और (हीनैः सह) नीच जनों के साथ (व्यवहारम्) व्यवहार को (न आवहेत्) नहीं करे ॥१६॥

भाषार्थः—विवाह आदि के समय कोई साधर्मी जन भोजन के लिए आग्रह करे तो श्रावक जा सकता है। अपने बाल-बच्चों के विवाह में भी भोजन कर सकता है। परन्तु ऐसी परिस्थिति में उसे रात्रि के बने पदार्थ नहीं खाना चाहिए। क्यों कि रात के बने भोजन में त्रस जीवों की विराधना और संमिश्रण नहीं हटाया जा सकता। तथा धर्म से हीन जन के साथ भी दानग्रहण आदि का व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥१६॥

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा जनक कार्यों का निषेध

उद्यानभोजनं जन्तु – योधनं कुसुमोच्चयम् ।
जलक्रीडान्दोलनादि, त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—[असौ] यह महाश्रावक (उद्यानभोजम्) बगीचा में भोजन करने को (जन्तुयोधनम्) प्राणियों के परस्पर में लड़ाने को (कुसुमोच्चयम्) फूलों के ढेर को (जलक्रीडान्दोलनादि) जलक्रीडा को तथा झूला झूलना आदि को (त्यजेत्) छोड़े तथा (तादृशम्) इस प्रकार के हिंसा के कारण (अन्यत्) और दूसरे कार्यों को (च) भी (त्यजेत्) छोड़े ॥२०॥

भाषार्थः—श्रावक मन बहलाव के लिए उद्यानभोजन, जन्तुयोधन, कुसुमोच्चय, जलक्रीड़ा, दोलाखेलन, फाग, शरत्पूर्णिमा-महोत्सवावलोकन, कूदना, फाँदना, युद्धावलोकन और रासलीला-वलोकन आदि का परित्याग करे ॥२०॥

विशेषार्थः—मित्रों के साथ बगीचा में जाकर भोजन करना उद्यानभोजन कहलाता है। तीतर आदिकों के लड़ाने को

जन्तुयोधन कहते हैं। वन में जाकर आमोद प्रमोद के हेतु फूलों का तोड़ना कुसुमोच्चय कहलाता है। जलाशय में जाकर स्त्रीपुरुष राग के वश होकर एक दूसरे के ऊपर पानी से खेल खेलते हैं उसे जलक्रीड़ा कहते हैं। इन सब से द्रव्यहिंसा और भावहिंसा होती है।

जिनपूजा का विधान वा रीति

यथादोषं कृतस्नानो, मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक्।
देवाधिदेवं सेवेत, निर्द्वन्दः कल्मषच्छिदे ॥२१॥

अन्वयार्थौ—(मध्याह्ने) मध्याह्नकाल में (यथादोषम्) दोष के अनुसार (कृतस्नानः) किया है स्नान जिसने ऐसा [च] और (धौतवस्त्रयुक्) धुले हुए वस्त्रों को धारण करने वाला [असौ] यह श्रावक (कल्मषच्छिदे) पापों को नष्ट करने के लिए (निर्द्वन्दः सन्) आकुलतारहित होता हुआ (देवाधिदेवम्) अरिहन्त भगवान की (सेवेत) आराधना करे ॥२१॥

भाषार्थः—मध्याह्नकाल में भोजन की तैयारी के लिए तत्पर श्रावक दोषानुसार स्नान करे, स्वच्छ धोती दुपट्टा पहने और निर्द्वन्द होकर पूर्वकृत और वर्तमान पापों को दूर करने के लिए इन्द्र और आचार्य आदि के द्वारा भी स्तुति को प्राप्त परमदेव अरिहन्त भगवान की पूजा करे ॥२१॥

जिनापोसना की विधि

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां, पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्-
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं, न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ॥
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः, सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं,
सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः, सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

अन्वयार्थौ—(स्नपनम्) अभिषेक की (आश्रुत्य) प्रतिज्ञा कर (तदिलाम्) अभिषेक के स्थान को (विशोध्य) शुद्ध करके (चतुष्कुम्भयुक्कोणायाम्) चारों कोनों में चार कलशसहित (सकुशश्रियाम्) श्रीवर्ण के ऊपर कुशासहित (पीठ्याम्) सिंहासन पर (जिनपतिम्) जिनेन्द्र भगवान को (न्यस्य) स्थापित करके (नीराज्य) आरती उतार कर (इष्टदिक्) इष्टदिशा में स्थित होता हुआ (अम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः) जल, इक्षुरस, घी, दुग्ध और दही के द्वारा (सिक्त्वा) अभिषिक्त करके (कृतोद्वर्तनम्) चन्दनानुलेपन युक्त (च) तथा (कुम्भजलैः) पूर्वस्थापित कलशों के जल से तथा (गन्धसलिलैः) सुगन्धयुक्त जल से (सिक्तम्) अभिषिक्त (जिनपतिम्) जिनराज को (सम्पूज्य) अष्टद्रव्य से पूजा करके (नुत्वा) स्तुति करके (स्मरेत्) जाप करे ॥२२॥

भाषार्थः—अभिषेक की प्रतिज्ञा कर अभिषेक के स्थान का शुद्ध करके चार कोनों पर चार कलशों सहित और श्रीवर्ण के ऊपर कुशासहित सिंहासन पर जिनेन्द्र भगवान को स्थापित करके आरती उतार कर इष्टदिशा को प्राप्त हुआ यष्टा (पूजक) क्रम से जल, रस, घी, दूध और दही के कलशों द्वारा अभिषेक करके चन्दनानुलपन कर पूर्वस्थापित कलशों के जल से तथा सुगन्धमिश्रित जल से अभिषेक कर अष्टद्रव्य से पूजा करे और पश्चात् उनकी स्तुति पढ़े तथा जाप भी करे ॥२२॥

प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति, षड्विधं देवसेवनम् ॥१॥
निस्तुषनिर्व्रणनिर्मल - जलार्द्रशालीयतण्डुलालिखिते ।
श्रीकामः श्रीनाथं, श्रीवर्णे स्थापयाम्युच्चैः ॥२॥

आश्रुत्य स्नपनमिति प्रस्तावना । विशोध्येत्यादि पुराकर्म । न्यस्येति स्थापना । अन्तमाप्येति सन्निधापनम् । इष्टदिगित्यादि पूजा । पूजाफलश्चास्मिन्नेव ग्रन्थे द्वितीयाध्याये एकत्रिंशत्तमे श्लोके प्रोक्तम् ।

विशेषार्थः—देवसेवा छह प्रकार की है। प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल। इनका विशद वर्णन श्री आशाधरविरचित नित्यमहोद्योत ग्रन्थ में है। संक्षिप्त वर्णन यह है।

अभिषेक की प्रतिज्ञा को प्रस्तावना कहते हैं। रत्न, जल, कुशा और अग्नि से सन्तर्पण वा भूमिशद्धि को पुराकर्म कहते हैं। चन्दन या अक्षतों से लिखित श्रीवर्ण पर जिनमूर्ति की स्थापना स्थापना कहलाती है। भगवान को अपने हृदय में विराजमान करना सन्निधापन कहलाता है। अष्टद्रव्य का समर्पण पूजा कहलाती है। दर्शन की विशुद्धि पूजा का फल है ॥२२॥

सिद्धचक्र, जिनवाणी और गुरुओं की पूजा का उपदेश

सम्यग्गुरूपदेशेन, सिद्धचक्रादि चार्चयेत्।
श्रुतं च गुरुपादांश्च, को हि श्रेयसि तृप्यति ॥२३॥

अन्वयार्थौ—[असौ] यह महाश्रावक (सम्यग्गुरूपदेशेन) सच्चे गुरु के उपदेश से (सिद्धचक्रादि) सिद्धचक्र आदिक को (च) तथा (श्रुतम्) शास्त्र को (च) और (गुरुपादान्) गुरु के चरणों को (अर्चयेत्) पूजे (हि) क्योंकि (श्रेयसि) कल्याण के विषय में (कः) कौन पुरुष (तृप्यति) तृप्त हो सकता है ॥२३॥

भाषार्थः—सद्गुरु के उपदेश से वृहत् सिद्धयन्त्र, सार स्वतयंत्र वा अन्य शास्त्रप्रसिद्ध यन्त्रों की पूजा करे। अनन्तर श्रुत और गुरु की पूजा करे ॥२३॥

विशेषार्थः—श्लोकोक्त दो "च" शब्द समुच्चय वाचक हैं। अर्थात् यंत्र की पूजा करे तथा शास्त्र की पूजा करे और गुरु की भी पूजा करे। तथा तृतीय "च" शब्द से यह ध्वनित होता है कि यंत्र, श्रुत और गुरु एक से पूज्य हैं।

शंका-केवल जिनेन्द्रपूजा से ही सब सिद्धि हो सकती है तो यंत्रादिक की पूजा का विधान क्यों किया ? समाधान-मोक्ष-मार्ग के साधनों के मिलने पर उनकी प्राप्ति किये बिना कौन मुमुक्षु सन्तुष्ट हो सकता है ? ॥२३॥

भोजन करने की रीति

ततः पात्राणि सन्तर्प्य, शक्तिभक्त्यनुसारतः ।
सर्वांश्चाप्याश्रितान्काले, सात्म्यं भुञ्जीत मात्रया ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(ततः) तदनन्तरम् [असौ] यह श्रावक (शक्ति-भक्त्यनुसारतः) अपनी शक्ति तथा भक्ति के अनुसार (पात्राणि) पात्रों को (च) और (सर्वान्) सम्पूर्ण (आश्रितान्) अपने आश्रित प्राणियों को (अपि) भी (सन्तर्प्य) अच्छी तरह से सन्तुष्ट करके (काले) योग्य काल में (मात्रया) प्रमाण से (सात्म्यम्) सात्म्यपदार्थ (भुञ्जीत) खावे।

भाषार्थः—मध्याह्न काल की पूजा के बाद पात्रदान के लिए द्वारापेक्षण करे। और प्राप्त सत्पात्र को अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार दान देकर तथा सम्पूर्ण आश्रितों का भरण पोषण करके योग्य काल में मात्रा से सात्म्य भोजन करे ॥२४॥

विशेषार्थ:—प्रकृतिविरुद्ध भी भोजन जिसके संयोग से खाने पर हानिकर नहीं होता उसे सात्म्य कहते हैं। जैसे-किसी वस्तु को मेंथी का छौंक लगा कर खाना, किसी वस्तु को सोंठ या पौदीना मिला कर खाना। मात्रा—सुगमता से पचने की

पानाहारादयो यस्य, विरुद्धाः प्रकृतेरपि ।
सुखित्वायावकल्पन्ते, तत्सात्म्यमिति कथ्यते ॥१॥
गुरूणामर्धसौहित्यं, लघूनां नातितृप्तता ।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं, सुखं तावद्विजीर्यति ॥२॥

योग्यता। जितने भोजन को जठराग्नि आसानी से पचा सकती है उतने भोजन को मात्राप्रमाण भोजन कहते हैं ॥२४॥

भोजन के बाद का कर्त्तव्य

लोकद्वयाविरोधीनि, द्रव्यादीनि सदा भजेत् ।
यतेत व्याध्यनुत्पत्ति—च्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥२५॥

अन्वयार्थौ—[अयम्] यह महाश्रावक (लोकद्वयाविरोधीनि) इस लोक और परलोक में विरोध नहीं करने वाले (द्रव्यादीनि) द्रव्यादिक को (सदा) सर्वदा, (भजेत्) सेवन करे तथा (व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः) व्याधि के उत्पन्न नहीं होने देने और उत्पन्न हुई व्याधि के दूर करने के विषय में (यतेत) प्रयत्न करे (हि) क्योंकि (सः) वह व्याधि (वृत्तहा) संयम का घात करने वाली [भवति] होती है ॥२५॥

भाषार्थः—जो इस लोक और परलोक में पुरुषार्थ के विघातक नहीं हैं ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्म और सहायकों का श्रावक सदा सेवन करे तथा ऐसी सावधानी रखे कि शरीर में व्याधि उत्पन्न नहीं होने पावे। यदि कदाचित् उत्पन्न भी हो जावे तो जल्दी से जल्दी उसका इलाज करे। क्योंकि व्याधि संयम की घातक होती है ॥२५॥

गुरु आदिक के साथ तत्त्वचर्चा का विधान

विश्रम्य गुरुसब्रह्म—चारिश्रेयोऽर्थिभिः सह ।
जिनागमरहस्यानि, विनयेन विचारयेत् ॥२६॥

अन्वयार्थौ—(ततः) इसके अनन्तर (असौ) यह महाश्रावक (विश्रम्य) विश्राम करके (गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभिः सह) गुरुओं के साथ, सहपाठियों के साथ तथा हितैषियों के साथ (जिनागमरहस्यानि) जिनागम के रहस्यों को (विनयेन) विनयपूर्वक (विचारयेत्) विचार करे ॥२६॥

उचित समय में शयन और ब्रह्मचर्यग्रहण का उपदेश

सायमावश्यकं कृत्वा, कृतदेवगुरुस्मृतिः ।
न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्यात्, शक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—(ततः) उस तत्त्व चर्चा के बाद (सायम्) सन्ध्या समय (आवश्यकम्) देवपूजा आदि आवश्यक कर्मों को (कृत्वा) करके (कृतगुरुदेवगुरुस्मृतिः) किया है देव तथा गुरु का स्मरण जिसने ऐसा [असौ] यह महाश्रावक (न्याय्ये) उचित (काले) समय में (अल्पशः) थोड़ा (स्वप्यात्) शयन करे (च) और (शक्त्या) यथाशक्ति (अब्रह्म) मैथुन को (वर्जयेत्) छोड़े । २७॥

भाषार्थ :—तत्त्वचर्चा के बाद किया है देव और गुरु का स्मरण जिसने ऐसा श्रावक सायंकालिक षट्कर्म करके एक पहर या दो पहर रात बीतने के बाद थोड़ा शयन करे तथा अपने संयम की सामर्थ्य के मुताबिक मैथुन का परित्याग करे ॥२७॥

विशेषार्थः—स्वल्पशः शब्द से यह सूचित होता है कि अल्पशयन भी प्रशस्त होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार का रोग अथवा मार्गजन्य खेद होने पर अधिक शयन भी किया जा सकता है। "अब्रह्म वर्जयेत्" यह उपलक्षण है। इससे "यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तान्" इस पूर्वप्रतिपादित वचन से 'एक क्षण भी बिना व्रत के व्यतीत नहीं होने देना चाहिए।' यह अभिप्राय ध्वनित होता है ॥२७॥

निद्राभङ्ग होने पर वैराग्यभावना भानेव का र्णन

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं, निर्वेदेनैव भावयेत् ।
सम्यग्भावितनिर्वेदः, सद्यो निर्वाति चेतनः ॥२८॥

अन्वयार्थौ—[असौ] यह महाश्रावक (निद्राच्छेदे) निद्रा के दूर होने पर (पुनः) फिर से (निर्वेदेन) वैराग्य के द्वारा (एव) ही

(चित्तम्) चित्त को (भावयेत्) संस्कृत करे [यतः] क्योंकि (सम्य-ग्भावितनिर्वेदः) अच्छी तरह से अभ्यास किया है वैराग्य का जिसने ऐसा (चेतनः) आत्मा (सद्यः) उसी क्षण में (निर्वाति) प्रशम सुख का अनुभव करता है ॥२८॥

भावार्थः—योग्यकाल में शयन करने पर भी यदि निद्रा भंग हो जावे तो अर्थादि का चिन्तवन नहीं करे। किन्तु अपने चित्त में संसार शरीर और विषयों से विरक्तता का चिन्तवन करे। क्योंकि भले प्रकार वैराग्य भावना का अभ्यास हो जाने से आत्मा तत्क्षण में ही प्रशमसुख का अनुभव करता है ॥२८॥

संसार से वैराग्य होने का उपदेश

दुःखावर्ते भवाम्भोधा – वात्मबुद्ध्याध्यवस्यता।
मोहाद्देहं हहाऽऽत्माऽयं, बद्धोऽनादि मुहु र्मया ॥२९॥

अन्वयार्थौ—(हहा) बड़े खेद की बात है कि (दुःखावर्ते) दुःख ही हैं आवर्त अर्थात् भौंरें जिसमें ऐसे (भवाम्भोधौ) संसार रूपी समुद्र में (मोहात्) मोह के कारण (देहम्) शरीर को (आत्मबुद्ध्या) आत्मा रूप से (अध्यवस्यता) निश्चित करने वाले (मया) मेरे द्वारा (अयम्) यह आत्मा (अनादि) अनादि काल से (मुहुः) बार बार (बद्धः) कर्मों से बद्ध किया गया ॥२९॥

भावार्थः—जिसमें नरकादिक के दुःख ही भौंरें हैं ऐसे संसाररूपी समुद्र में अनादि काल से मोह (अविद्या) संस्कार से शरीर को ही आत्मा मान कर मैंने अपने आत्मा को बार बार कर्मों से परतंत्र किया है, यह बड़े खेद की बात है ॥२९॥

मोह, राग और द्वेष के विनाश करने का उपदेश

तदेनं मोहमेवाह – मुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे।
मुच्येतैतच्छ्ये क्षीण – रागद्वेषः स्वयं हि ना ॥३०॥

अन्वयार्थौ—(तत्) इसलिये (अहम्) मैं (नित्यम्) सर्वदा (एनम्) इस (मोहम्) मोह को (एव) ही (उच्छेत्तुम्) नष्ट करने के लिए (उत्सहे) प्रयत्न करता हूँ (हि) क्योंकि (एतच्छये) इस मोह के नष्ट होने पर (क्षीणरागद्वेषः) क्षीण हो गये हैं राग और द्वेष जिसके ऐसा (ना) पुरुष (स्वयम्) स्वयं अर्थात् बिना किसी प्रयत्न के अपने आप (मुच्येत) मुक्त हो जाता है ॥३०॥

भाषार्थः—मोह के नष्ट होने पर हमारा आत्मा रागद्वेष से रहित होकर स्वयं (बिना किसी प्रयत्न के) मुक्ति का लाभ कर सकता है क्योंकि रागद्वेष का मूलकारण मोह है। इसलिये मोह के नाश से रागद्वेष का विनाश अपने आप होता है। अतएव हमें मोह (मिथ्यात्व) के उच्छेद के लिए ही निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ॥३०॥

विशेषार्थः—सारांश यह है कि मोह के कारण ही पर पदार्थ में आसक्ति (आत्मीयबुद्धि) होती है। तदनन्तर नाना प्रकार के विकल्प होते हैं और जीवात्मा की वृत्ति रागद्वेषमय होती है। इसके द्वारा हेयोपादेय के विवेक का अभाव होता है। इस प्रकार से यह रागद्वेषात्मक घटनाचक्र सदैव घूमता रहता है। उसके रोकने का उपाय केवल रागद्वेष के मूलभूत मोह का उच्छेद करना ही है। इसलिये मोह के उच्छेद के लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये ॥३०॥

बन्ध से अनर्थ परम्परा और इन्द्रियविषयों के त्याग की आवश्यकता

बन्धाद्देहो ऽत्र करणा — न्यैतैश्च विषयग्रहः।
बन्धश्च पुनरेवात — स्तदेनं संहराम्यहम् ॥३१॥

अन्वयार्थौ—(बन्धात्) पुण्यपाप रूप कर्म के उदय से (देहः) शरीर (अत्र) इस शरीर में (करणानि) स्पर्शन आदिक इन्द्रियाँ

(एतैः) इन इन्द्रियों के द्वारा (विषयग्रहः) स्पर्श आदिक विषयों का ग्रहण (च) तथा (अतः) इन विषयों के ग्रहण से (पुनः) फिर (एव) भी (बन्धः) कर्मों का बन्ध (भवति) होता है (तत्) इस लिए (अहम्) मैं (एनम्) इस बन्ध के कारणभूत विषयों के ग्रहण को (एव) ही (संहरामि) जड़ से नष्ट करता हूँ ॥३१॥

भाषार्थः—पुण्यपापात्मक कर्मों के विपाक को बन्ध कहते हैं, उससे देह की प्राप्ति होती है। देह में इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। और इन विषयों के उपभोग से पुनः बन्ध होता है। यह अनर्थपरम्परा अनादि से चली आती है इसलिये मैं बन्ध के मूल विषयग्रहण या परपदार्थ में उपादेयबुद्धि का ही सर्वप्रथम संहार करता हूँ ॥३१॥

काम की असाध्यता और उसके विजय का उपाय

ज्ञानिसङ्गतपोध्यानै — रप्यसाध्यो रिपुः स्मरः ।
देहात्मभेदज्ञानोत्थ — वैराग्येणैव साध्यते ॥३२॥

अन्वयार्थौ—(ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैः) ज्ञानियों की संगति, तप और ध्यान के द्वारा (अपि) भी (असाध्यः) वश में नहीं हो सकने वाला (स्मरः रिपुः) कामरूपी शत्रु (देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येण) शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान से उत्पन्न होने वाले वैराग्य के द्वारा (एव) ही (साध्यते) वश में किया जाता है ॥३२॥

भाषार्थः—यह कामरूपी शत्रु आत्मज्ञानियों के सत्समागम से पराजित नहीं होता, बड़े बड़े कायक्लेश आदि तप के द्वारा नहीं जीता जाता, परपदार्थ आदि के चिन्तनरूप ध्यान से भी इस पर विजय पाना सम्भव नहीं किन्तु शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञानरूपी वैराग्य से ही यह स्मर वश में किया जाता है ॥३२॥

विशेषार्थः—मैथुनसंज्ञाजनित जो संस्कार आत्मा में प्रगट होता है उसे स्मर कहते हैं। यह काम ऐहिक तथा पारलौकिक

पुरुषार्थ से आत्मा को जीतता है। अर्थात् जीवात्मा का अतिशय अपकारी है। भेदविज्ञान=सम्यग्ज्ञान या आत्मानुभूति। आत्मा में आत्मा की अनुभूति को वैराग्य कहते हैं ॥३२॥

भेदविज्ञानियों के त्याग की प्रशंसा और स्त्रीत्याग में असमर्थ अपनी निन्दा

धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं, भेदज्ञानाय तादृशम् ।
धिङ्मादृशः कलत्रेच्छा–तन्त्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान् ॥३३॥

अन्वयार्थौं—(ये) जो व्यक्ति (भेदज्ञानाय) भेदविज्ञान के लिये (तादृशम्) उस प्रकार के अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदिक के द्वारा सर्वोत्कृष्ट (राज्यम्) साम्राज्य को [अपि] भी (अत्यजन्) छोड़ चुके (ते) वे पुरुष (धन्याः) प्रशंसनीय हैं, किन्तु (कलत्रेच्छातन्त्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान्) स्त्री की इच्छा है प्रधान जिसमें ऐसे अथवा स्त्री की इच्छा के अधीन है वृत्ति जिसकी ऐसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्यों के द्वारा दुखी (मादृशः) मेरे समान पुरुषों को (धिक्) धिक्कार [अस्ति] है।

भाषार्थः—जिन्होंने पूर्वभव में आचरित तप और श्रुत के अभ्यास से पुण्यविशेष का उपार्जन किया है। परन्तु अन्त में भेदविज्ञान की प्राप्ति के महत्त्व को तथा आत्मकल्याण के गौरव को समझकर उस दुस्त्यज साम्राज्य की लक्ष्मी का भी जीर्ण तृण के समान तुच्छ समझ कर परित्याग किया है वे भरत और सगर चक्रवर्ती आदिक महापुरुष धन्य हैं। किन्तु हमारे समान तत्त्वज्ञान (सम्यक्त्व) प्राप्त करके भी जो स्त्रीसम्बन्धी विषयाभिलाषा की परतन्त्रता के अधीन होकर गृहस्थाश्रम में रुक रहे हैं उन्हें धिक्कार है ॥३३॥

विशेषार्थः—आश्रम चार हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त। गृहस्थाश्रम में स्थिति उन्हीं की होती है जिनके मनकी वृत्ति स्त्रीसंसर्ग की अभिलाषाओं से निवृत्त नहीं होती।

ऐसे प्राणियों को मकान वगैरह परिग्रह और व्यापार आदि आरम्भ करने पड़ते हैं। शारीरिक और मानसिक व्याधियों और आधियों से अपनी दुःस्थिति का उपभोग करना पड़ता है। तथा वे चारित्र रूपी अमृत के असली रसास्वाद से वंचित रहते हैं। ऐसे व्यक्ति तत्त्वों का अनुभव करते हुये भी गृहस्थाश्रम से अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ सकते, उन्हें धिक्कार है ॥३३॥

शमश्री और स्त्री में विजयशील का निर्णय

इतः शमश्रीः स्त्री चेतः, कर्षतो मां जयेन्नु का।
आ ज्ञातमुत्तरैवात्र, जेत्री या मोहराट्चमूः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—(इतः) इस तरफ से (शमश्रीः) शान्तिरूपी लक्ष्मी (च) और (इतः) इस तरफ से (स्त्री) स्त्री (माम्) मेरे को (कर्षतः) अपनी अपनी तरफ खींचती हैं। अथवा (आ ज्ञातम्) अच्छी तरह से मालूम हो गया है कि (अत्र) इन दोनों में (उत्तरा) दूसरे नम्बर की स्त्री (एव) ही (जेत्री) विजयशील [अस्ति] है (या) जो (मोहराट्चमूः) मोहरूपी राजा की सेना [अस्ति] है ॥३४॥

भाषार्थः—मैं अतीन्द्रिय आत्मिकसुख और इन्द्रिय जनित विषयसुख दोनों का अनुभव करने वाला हूँ। आश्चर्य है कि मुझे एक तरफ से प्रशमसुख सम्पत्तिरूपी शमश्री अपनी ओर खींच रही है और दूसरी ओर से गृहस्थाश्रम के निवास का मूल आधारभूत स्त्री अपनी ओर खींच रही है। मुझे मालूम होता है कि मुझे स्त्री ही अपनी ओर खींचेगी और शमश्री को पराजित कर देगी। क्योंकि यह स्त्री केवल स्त्री ही नहीं है किन्तु प्रतापी मोहनामक राजा की सेना है ॥३४॥

विशेषार्थः—जैसे कोई प्रतापी राजा अपनी सेना के द्वारा अपने प्रतिपक्षी को पराजित कर विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार

चारित्र मोहरूपी राजा स्त्रीरूपी अपनी सेना के बल से आत्मा की इस शमश्री को दबा कर मुझे अपनी ओर खींच रही है, यही कारण है कि मैं सर्वपरिग्रह का त्याग करने को असमर्थ होरहा हूँ

यहाँ "आ" शब्द का अर्थ स्मृतम् है जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि मैं जान गया कि स्त्री ही विजय प्राप्त करेगी अथवा "आ" शब्द का दूसरा अर्थ संताप और क्रोध भी है। जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि व्रती अपने मन में कुपित होकर कहता है कि मैंने जान लिया है कि इन दोनों में स्त्री ही मुझे अपनी ओर खींचेगी ॥३४॥

स्त्री की दुस्त्यजता

चित्रं पाणिगृहीतीयं, कथं मां विष्वगाविशत् ।
यत्पृथग्भावितात्माऽपि, समवैम्यनया पुनः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—(चित्रम्) बड़ा भारी आश्चर्य है (यत्) कि (पाणिगृहीती) हाथ के द्वारा ग्रहण की गई (इयम्) यह विवाहिता स्त्री (कथम्) किस प्रकार से (माम्) मेरे में (विष्वक्) चारों ओर से (आविशत्) प्रविष्ट हो गई है [यतः] क्योंकि (पृथग्भावितात्मा) पृथक् रूप से वार वार चिन्तवन किया है आत्मा का जिसने ऐसा मैं (पुनः) वार वार (अनया सह) इस स्त्री के साथ (समवैमि) तादात्म्य संबंध को प्राप्त होता हूँ।

भाषार्थः—मुझे बड़ा विस्मय है कि मैंने स्त्री का पाणि (हाथ) द्वारा ग्रहण किया था अर्थात्-विवाह के समय पर हाथ पकड़ कर परिणयन किया था, परन्तु यह आज मुझ में सर्वरूप से व्याप्त क्यों हो रही है ? अर्थात् इसने मुझे आत्ममय कैसे बना लिया ? क्योंकि स्त्री की ममता के प्रभाव से ही आज मेरी यह स्थिति हो रही है। जिससे मैं भिन्न हूँ, यह भिन्न है इस प्रकार भेदविज्ञान सहित होकर भी मैं आज इसके साथ तादात्म्य कैसा

भाव रख रहा हूँ। सारांश यह है कि मैं केवल चारित्रमोहके वश होकर इससे अभेदभाव रखने वाला हो रहा हूँ ॥३५॥

स्त्री से चित्तनिवृत्ति होने पर धनादिक की अनावश्यकता

स्त्रीतश्चित्त ! निवृत्तं चे-न्ननु वित्तं किमीहसे।
मृतमण्डनकल्पो हि, स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥३६॥

अन्वयार्थौ—(चित्त) हे मन (चेत्) यदि [त्वम्] तू (ननु) निश्चय करके (स्त्रीतः) स्त्री से (निवृत्तम्) निवृत हो गया [तर्हि] तो फिर (वित्तम्) धनग्रहण को (किम्) क्यों (ईहसे) चाहेगा (हि) क्योंकि (स्त्री-निरीहे) स्त्री की इच्छा नहीं रहने पर (धनग्रहः) धन को ग्रहण करना अथवा धन की इच्छा करना (मृतमण्डनकल्पः) मरे हुये मनुष्यों को भूषण पहिनाने के समान व्यर्थ [अस्ति] है ॥३६॥

भाषार्थः—हे अन्तःकरण ! यदि तू अपने विवेक बल के सामर्थ्य से स्त्री से निवृत्त हो जावे तो मुझे विश्वास है कि तुझे धन की इच्छा ही नहीं रहेगी। क्योंकि जिसका मन स्त्री से पराङ्मुख है उसको धन के कमाने, रखाने और बढ़ाने की चाह मुर्दे को अलङ्कारों की सजावट के समान अनुपयोगी हो जाती है।

विशेषार्थः—विषयसुखके लिये धन साधन है। विषयसुख के विषय में आलम्बन विभावरूप से स्त्री मुख्य साधन है। तथा महल, मकान, बाग, बगीचा आदि उद्दीपन विभाव पने से गौण साधन हैं। इसलिये विषयसुखों का आलम्बन विभावभावरूप स्त्री की अभिलाषा से जिसका अन्तःकरण विमुख हो जावेगा. उसके विषयसुख के साधनभूत धन की इच्छा स्वयं विफल हो जाती है। क्योंकि जब साध्य ही नहीं चाहिये तो साधन की क्या जरूरत है ॥ ३६ ॥

परम सामायिक कराने वाली भावना

इति च प्रतिसन्दध्या – दुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि ।
मनोरथा अपि श्रेयो–रथाः श्रेयोऽनुबन्धिनः ॥३७॥

अन्वयार्थौ—(इति) वक्ष्यमाण प्रकार से [च] भी (असौ) यह महाश्रावक (मुक्तिवर्त्मनि) मोक्षमार्ग के विषय में (उद्योगम्) उद्योग या उत्साह को (प्रतिसन्दध्यात्) वार वार लगावे (यत्) क्योंकि (श्रेयोरथाः) मोक्ष ही है रथ जिन्हों का ऐसे अर्थात् मोक्षविषयिक (मनोरथाः) मनोरथ (अपि) भी (श्रेयोऽनुबन्धिनः) अभ्युदय के सम्पादन करने वाले या स्वर्गादिक को देने वाले (भवन्ति) होते हैं ॥३७॥

भाषार्थः—मोक्षमार्ग सम्बन्धी उद्योग के लिये जैसे वैराग्य-भावना का चिन्तवन किया था उसी प्रकार वक्ष्यमाण आयु और काय की अस्थिरता की भावना को भी भावे ॥३७॥

विशेषार्थः—यहां 'च' शब्द समुच्चयवाचक है । इसलिये केवल वैराग्य का ही चिन्तवन नहीं करे, किन्तु मोक्षमार्ग में दृढ़ कराने वाली भावनाओं का भी उद्योग करे यह अर्थ होता है। यहां यह शंका हो सकती है कि आचरण के बिना केवल मनोरथ स्वप्न में प्राप्त राज्यपद के समान निरुपयोगी होते हैं । इसका समाधान यह है कि मोक्षमार्ग से सम्बन्ध रखने वाले मनोरथ भी भव भव में श्रेय के सम्पादक होते हैं । अपिशब्द से यह सूचित होता है कि जब श्रेय से सम्बद्ध मनोरथों का इतना असर होता है तब अनुष्ठान के माहात्म्य का कहना ही क्या है ? ॥३७॥

आयु और शरीर के सहायकत्व का निर्णय

क्षणे क्षणे गलत्यायुः, कायो ह्रसति सौष्ठवात् ।
ईहे जरां नु मृत्युं नु, सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ॥३८॥

अन्वयार्थौ—(आयुः) आयुकर्म (क्षणे क्षणे) क्षण-क्षण में अर्थात् प्रतिसमय में (गलति) नाश को प्राप्त हो रहा है [च] और (सौष्ठवात्)

स्वार्थक्रिया के करने के सामर्थ्य से (कायः) शरीर (ह्रसति) ह्रास को प्राप्त हो रहा है [अतः] इसलिये [अहम्] मैं (स्वार्थसिद्धये) अपने इच्छित अर्थ की सिद्धि के लिये (सध्रीचीम्) सहायभूत (जराम्) बुढ़ापे को (ईहे नु) इच्छा करूं क्या ? अथवा (मृत्युम्) मृत्यु को (ईहे नु) चाहूँ क्या ?।

भाषार्थः—व्यावहारिक जीवन में स्वार्थ की सिद्धि के लिये आयु और शरीर प्रधान साधन माने जाते हैं। परन्तु आयु अञ्जलि के जल के समान प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। तथा काय भी अपने सामर्थ्य से प्रतिक्षण शिथिल हो रहा है। काय की यह हीनता बुढ़ापे के लाने में प्रवृत्त हो रही है। तो मरण और बुढ़ापा इन दोनों में से मैं किसको अपने स्वार्थ का सहायक समझूं। अर्थात्-वास्तव में इनमें कोई भी मुझे स्वार्थ का सहायक नहीं दिखता, इस प्रकार भी चिन्तवन करे ॥३८॥

जिनधर्मविमुख होकर सम्पत्ति पाना भी श्रेयस्कर नहीं

क्रियासमभिहारोऽपि, जिनधर्मजुषो वरम् ।
विपदां सम्पदां नासौ, जिनधर्ममुचस्तु मे ॥३९॥

अन्वयार्थौ—(जिनधर्मजुषः) जिनधर्म को प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाले (मे) मेरे (विपदाम्) विपत्तियों का (क्रियासमभिहारः) बार बार आना (अपि) भी (वरम्) श्रेष्ठ [विद्यते] है (तु) किन्तु (जिनधर्ममुचः) जिनधर्म से विमुख (मे) मेरे (सम्पदाम्) सम्पत्तियों का (असौ) यह बार बार आना (वरम्) श्रेष्ठ (नास्ति) नहीं है ॥३९॥

भाषार्थः—जिनधर्म को प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुये यदि शारीरिक वा मानसिक दुःख और परीषह तथा उपसर्ग की मुझे पुनः पुनः प्राप्ति होवे तो उसे मैं अच्छा मानता हूँ। किन्तु जैनधर्म से विमुख रहने पर इन्द्रिय और मानसिक सुख साधनों की बारम्बार प्राप्ति को मैं अच्छा नहीं मानता हूँ। महाश्रावक इस प्रकार श्रद्धा की दृढ़ता की द्योतक भावना भावे ॥३९॥

विशेषार्थः—क्रियासमभिहार शब्द का अर्थ बारम्बार अथवा अधिकता है। शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा की परिणति को जैनधर्म कहते हैं ॥३९॥

व्रती के मुनिधर्माचरण से प्राप्त होने वाली समता प्राप्ति की कामना

लब्धं यदिह लब्धव्यं, तच्छ्रामण्यमहोदधिम् ।
मथित्वा साम्यपीयूषं, पिबेयं परदुर्लभम् ॥४०॥

अन्वयार्थौ—(इह) इस मनुष्यजन्म अथवा इस गृहस्थाश्रम में (यत्) जो (लब्धव्यम्) प्राप्त करना चाहिये था (तत्) वह [मया] मैंने (लब्धम्) प्राप्त कर लिया (तत्) इसलिये (श्रामण्यमहोदधिम्) मुनिव्रत रूपी महासमुद्र को (मथित्वा) मथ कर के (परदुर्लभम्) दूसरों के लिये अत्यन्त दुर्लभ (साम्यपीयूषम्) समतारूपी अमृत को (पिबेयम्) मुझे पीना चाहिये ॥४०॥

भावार्थः—मुझे इस गृहस्थाश्रम तथा मनुष्यभव में जो कुछ प्राप्त करने योग्य था वह मैंने प्राप्त कर लिया है, अब तो यही भावना है कि मैं मुनित्वरूपी महोदधि का मथन कर पर दुर्लभ समताभावरूपी अमृत को पीऊं ॥४०॥

विशेषार्थः—जैसे समुद्र से बहुमूल्य रत्न निकलते हैं, उसका अवगाहन करना कठिन है और उसका पार पाना भी दुर्लभ होता है उसी प्रकार मुनियों के मूल और उत्तर गुणों से बहुमूल्य सम्यग्दर्शनादिगुणों की जो विशुद्धता प्राप्त होती है उसका अवगाहन करना कठिन है और उसका अन्त पाना भी दुर्लभ है। मुनियों के मूलगुण और उत्तर गुणों के आचरण को श्रामण्य कहते हैं और उसको यहां समुद्र की उपमा दी है। यहां व्रती की यह भावना है कि जैसे सुना जाता है कि देव और असुरों ने क्षीरसमुद्र का मन्थन करके अमृत पिया था उसी प्रकार

श्रामण्य (मुनित्व) रूपी महोदधि का मन्थन करने से अन्य को दुर्लभ साम्यभावरूपी अमृत प्राप्त होता है।

'परदुर्लभम्' पद का खुलासा यह है कि समतारूपी अमृत अन्यमतों के अवलम्बन से तो दुर्लभ है, तो भी बहुत से जिनसमय के ज्ञाताओं के लिये भी दुर्लभ है। केवल परम उपेक्षामय चारित्ररूप यह समताभाव कतिपय जिनानुयायी महात्माओं को ही प्राप्त होता है ॥४०॥

महाश्रावक की समता का वर्णन

पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ, मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे।
जीविते मरणे मोक्षे, भवे स्यां समधीः कदा ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थौ—(अहम्) मैं (पुरे) नगर के विषय में (अरण्ये) वन के विषय में (मणौ) मणि के विषय में (रेणौ) धूलि के विषय में (मित्रे) मित्र के विषय में (शत्रौ) शत्रु के विषय में (सुखे) सुख के विषय (असुखे) दुःख के विषय में (जीविते) जीवन के विषय में (मरणे) मरण के विषय में (मोक्षे) मोक्ष के विषय में [च] और (भवे) संसार के विषय में (समधीः) समान बुद्धिवाला (कदा) कब (स्याम्) होऊंगा ।।४१॥

भाषार्थः—मैं चातुर्वर्ण्य के अधिष्ठान के आचार और प्रीति (राग) के कारणभूत नगर में और इसी के ठीक विपरीत अप्रीति के निमित्तभूत वन में, रत्न और धूलि में, हित करने वाले मित्र और अपकार करने वाले शत्रु में, आल्हादकारक सुख और देह तथा मन में संतापोत्पत्तिकारक दुःख में, सब पुरुषार्थों की सिद्धि के उपायभूत जीवन में और इसके ठीक विपरीत मरण में, अधिक कहां तक कहा जाय, अनन्तसुखमय मोक्ष में और उसके विपरीत संसार में समानभाव (समताभाव) रखने वाला कब होऊँगा ? श्रावक इस प्रकार की भावना भावे ॥४१॥

विशेषार्थः—नगर और वन में तो सम भावना औरों के भी हो सकती है परन्तु मोक्ष और संसार में समबुद्धि परमवैराग्य (निर्विकल्पक ध्यान) से ही होती है। कहा भी है कि—" मोक्षे भवे च सर्वत्र, निस्पृहो मुनिसत्तमः " ॥४१॥

महाश्रावक के यतिधर्म की परमसीमा की भावना

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्ड – विस्मापितबहि–र्जनः।
कदा लप्स्ये समरस – स्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ—(मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः) मोक्षमार्ग में प्रवृत्त मुनियों की करणीय क्रियाओं के समूह को पालन करने से चकित कर दिया है बहिरात्मा लोगों को जिसने ऐसा [च] तथा (आत्मदृक्) आत्मदर्शी [सन्] होता हुआ [अहम्] मैं (समरसस्वादिनाम्) समतारूपी रस का आस्वादन करने वाले मुमुक्षुओं की (पंक्तिम्) श्रेणी को (कदा) किस समय (लप्स्ये) प्राप्त होऊंगा ॥४२॥

भावार्थः—जिन्होंने मोक्षप्राप्ति के निमित्त गुरुकुल का निवास और आतापनयोग वगैरह कायक्लेशरूप तपसे बहिरात्माओं को विस्मय में डाल दिया है ऐसे ध्यान, ध्याता और ध्येय में अभेददृष्टि के धारक निर्विकल्पक योगियों की श्रेणी में गिने जाने का सौभाग्य मैं कब प्राप्त करूँगा। अर्थात् – मुझे मुनिवृत्ति कब प्राप्त होगी ? ऐसी भावना भी महाश्रावक भावे ॥४२॥

विशेषार्थः—देह और आत्मा को एक मानने वाला मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा कहलाता है। अपने द्वारा असाध्य कार्यों का सद्भाव दूसरों में देख कर आश्चर्य होता है। इसलिये आत्मदर्शी साधुओं के सम्यक्त्वपूर्वक विहित कायक्लेश आदि तप से बहिरात्मा चकित होता है ॥४२॥

परमकाष्ठा प्राप्ति की चाह

शून्यध्यानैकतानस्य, स्थाणुबुद्ध्यानडुन्मृगैः ।
उद्घृष्यमाणस्य कदा, यास्यन्ति दिवसा मम ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(शून्यध्यानैकतानस्य) निर्विकल्पक समाधि में लीन होने वाले तथा (स्थाणुबुद्ध्या) ठूँठ की बुद्धि से (अनडुन्मृगैः) गाय बैल और मृगों के द्वारा (उद्घृष्यमाणस्य) निर्भयता से खुजाये जाने वाले (मम) मेरे (दिवसाः) दिन (कदा) किस समय (यास्यन्ति) बीतेंगे ॥४३॥

भावार्थः—जब मैं तत्त्वज्ञान और वैराग्य सम्पन्न होकर नगर के बाहर या वन में कायोत्सर्ग धारण करूं और निर्विकल्पक समाधि में लीन होऊँ उस समय अपनी इच्छानुसार विचरने वाले ग्रामीण वृषभादि जानवर तथा वन्य पशु मुझे स्थाणु (ठूंठ) समझ कर मेरी देह से अपनी खाज खुजावें, योगाभ्यास की परम-सीमा को प्राप्त ऐसे दिन मेरे कब आवेंगे ? महाश्रावक इस प्रकार मनोरथ भी करे ॥४३॥

प्रोषधोपवास लेकर चतुर्दशी की रात्रि में नगर के बाहर
कायोत्सर्ग करते हुये उपसर्गों से अविचलित प्राचीन
प्रतिमायोगधारी श्रावकों की प्रशंसा

धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः, गृहिणोऽपि न येऽचलन् ।
तत्तादृगुपसर्गोप – निपाते जिनधर्मतः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो (गृहिणः) गृहस्थ होते हुए (अपि) भी (तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते) उन शास्त्रप्रसिद्ध और असाधारण उपसर्गों के आने पर (अपि) भी (जिनधर्मतः) जिनधर्म से (न अचलन्) विचलित नहीं हुये (ते) वे (जिनदत्ताद्याः) सेठ जिनदत्त वगैरह (धन्याः) प्रशंसनीय [सन्ति] हैं ॥४४॥

भावार्थः—प्रोषधोपवासव्रत के धारी आगमप्रसिद्ध वे जिनदत्त सेठ तथा वारिषेणकुमार आदि श्रावक भी धन्य हैं, जो शस्त्रप्रहार आदि घोर उपसर्ग आने पर भी जिनधर्म तथा निज-सेवित सामायिक से विचलित नहीं हुये ॥४४॥

व्रतप्रतिमाधारण का फल

इत्याहोरात्रिकाचार—चारिणि व्रतधारिणि ।
स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्ष—श्रीर्ष्येव वरस्रजम् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—(इति) इस प्रकार (आहोरात्रिकाचारचारिणि) दिन रात सम्बन्धी आचार को आचरण करने वाले (व्रतधारिणि) व्रतधारी पुरुष के गले में (स्वर्गश्रीः) स्वर्गरूपीलक्ष्मी (मोक्षश्रीर्ष्या) मोक्षरूपी लक्ष्मी से ईर्षा से (एव) ही (वरस्रजम्) वरमाला को (क्षिपते) डालती है ॥४५॥

भावार्थः—इस प्रकार छटवें अध्याय में वर्णित महाश्रावक की दिनचर्या के अनुसार चलने वाले व्रतप्रतिमा के धारी श्रावक के गले में मोक्षश्री के साथ ईर्ष्या से ही मानो स्वर्गश्री वरमाला डालती है ॥४५॥

विशेषार्थः—जैसे कोई कुलीन कन्या अपने माता पिता की अनुज्ञा से "मेरे अभीष्ट पति को कोई दूसरी कन्या नहीं वर लेवे" इस ईर्ष्याबुद्धि से उसके गले में शीघ्रता से वरमाला डाल देती है, उसी प्रकार इस अध्याय में वर्णित अहोरात्र के आचार से सम्पन्न व्रतप्रतिमाधारी के गले में " इसे मोक्षलक्ष्मी नहीं वर लेवे " ऐसी ईर्षा से स्वर्गश्री शीघ्रता से वरमाला डाल देती है, अर्थात् उसे स्वर्ग प्राप्त होता है ॥४५॥

इत्याशाधरविरचिते सागारधर्मामृते विजयाटीकायां
पष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ सप्तम अध्याय

सामायिकप्रतिमा का लक्षण

सुदृङ्मूलोत्तरगुण – ग्रामाभ्यासविशुद्धधीः ।
भजँस्त्रिसन्ध्यं कृच्छ्रेऽपि, साम्यं सामायिकी भवेत् ॥१॥

अन्वयार्थौ—(सुदृङ् मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः) निरतिचार सम्यक्त्व और मूलगुण तथा उत्तरगुणों के अभ्यास से पवित्र बुद्धि वाला [च] तथा (कृच्छ्रे) उपसर्ग और परीषह के आने पर (अपि) भी (त्रिसन्ध्यम्) तीनों सन्ध्याओं में (साम्यम्) सामायिक को (भजन्) सेवन करने वाला [व्रतिकः] व्रती श्रावक (सामायिकी) सामायिक प्रतिमाधारी (भवेत्) कहलाता है ॥१॥

भावार्थः – पहली और दूसरी प्रतिमा में निरतिचार सम्यग्दर्शन, मूलगुण और उत्तरगुणों के पालन के पुनः पुनः अभ्यास से जिसने अपनी बुद्धि को विशुद्ध बना लिया है और जो उपसर्ग तथा परीषह के आने पर भी त्रिकाल सामायिक से च्युत नहीं होता वह व्रती श्रावक सामायिक प्रतिमा वाला कहलाता है ॥१॥

यथाविधि सामायिककर्त्ता की प्रशंसा

कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्म सन्ध्या-त्रयेऽपि यावन्नियमं समाधेः ।
यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति, सामायिकी कस्य न स प्रशस्यः ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो व्यक्ति (सन्ध्यात्रये) तीनों ही संध्याओं में (यथोक्तम्) आगमोक्त विधि से (कृतिकर्म) वन्दनाकर्म को (कृत्वा) करके (यावन्नियमम्) सामायिक की प्रतिज्ञा का काल समाप्त होने तक (वज्र-पाते) वज्र के गिरने पर (अपि) भी (समाधेः) समाधि से (जातु) कभी

भी (न अपैति) च्युत नहीं होता है (सः) वह (सामायिकी) सामायिक प्रतिमा वाला श्रावक (कस्य) किसके (न प्रशस्यः) प्रशंसनीय नहीं है ॥२॥

भाषार्थः—जो तीनों संध्याओं में अपने सामायिक के काल तक पूर्वोक्त कृतिकर्म करके वज्रपात होने पर भी अपने निश्चय सामायिक से च्युत नहीं होता है वह सामायिक प्रतिमावान् इन्द्रादिक द्वारा भी वन्दनीय होता है ॥२॥

विशेषार्थः—रत्नत्रय की एकाग्रता को योग; समाधि या निश्चय सामायिक कहते हैं। इस श्लोक में दिया गया अपिशब्द उस साम्यभाव का द्योतक है जिसके कारण भयंकर उपसर्गों के आने पर भी सामायिकी समता से च्युत नहीं होता। अथवा त्रिकाल से भिन्न समय में कृत सामायिक में भी उपसर्गादिक से अविचलित रहना भी अपिशब्द से सूचित होता है। ॥२॥

निश्चय सामायिक की शिखर पर पहुँचे हुओं की प्रशंसा

आरोपितः सामायिक – व्रतप्रासादमूर्धनि।
कलशस्तेन येनैषा, धूरारोहि महात्मना ॥३॥

अन्वयार्थौ—(येन) जिस (महात्मना) महात्मा के द्वारा (एषा) यह निश्चय सामायिक रूप (धूः) प्रतिमारूप बोझ (आरोहि) धारण किया है (तेन) उस महात्मा ने (सामायिकव्रतप्रासादमूर्धनि) सामायिकव्रत रूपी मन्दिर के शिखर पर (कलशः) कलश (आरोपितः) स्थापित किया।

भाषार्थः—जिस महात्मा ने गणधर, चक्रधर और इन्द्र आदिक के द्वारा वाञ्छनीय व्यवहार सामायिकपूर्वक निश्चय सामायिक रूप भूमिका प्राप्त करली है उसने सर्वसाधारण के लिये आरोहण के हेतु दुर्लभ और इष्टसिद्धि के मूलकारण अपने सामायिकव्रतरूपी महल पर कलश चढ़ाया है ॥३॥

प्रोषधप्रतिमा का लक्षण

स प्रोषधोपवासी स्या – द्यः सिद्धः प्रतिमात्रये।
साम्यान्न च्यवते यावत्, प्रोषधानशनव्रतम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो श्रावक (प्रतिमात्रये) प्रारम्भिक तीन प्रतिमाओं में (सिद्धः) परिपक्व या निरतिचार [भवन्) होता हुआ (प्रोषधानशनव्रतं यावत्) जब तक प्रोषधोपवास व्रत है तब तक (साम्यात्) सामायिक से (न च्यवते) च्युत नहीं होता (सः) वह (प्रोषधोपवासी) प्रोषध प्रतिमाधारी (स्यात्) कहलाता है ॥४॥

भाषार्थः—पहिले की तीन प्रतिमाओं को निर्दोष पालते हुये सोलह पहर उपवास के समय तक जो अपने साम्यभाव से च्युत नहीं होता वह प्रोषधप्रतिमाधारी कहलाता है ॥४॥

विशेषार्थः—जैसे सामायिकप्रतिमा में सामायिक करते समय समताभावों की आवश्यकता है उसी प्रकार प्रोषधप्रतिमा में भी १६ पहर तक समताभाव की स्थिरता आवश्यक है।

प्रोषधप्रतिमावान् की यथार्थवृत्ति की स्थिति

त्यक्ताहाराङ्गसंस्कार – व्यापारः प्रोषधं श्रितः।
चेलोपसृष्टमुनिवद् – भाति नेदीयसामपि ॥५॥

अन्वयार्थौ—(प्रोषधम्) प्रोषधप्रतिमा को (श्रितः) पालन करने वाला श्रावक (त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारव्यापारः) छोड़ दिया है चारों प्रकार का आहार, शरीरसंस्कार और व्यापार जिसने ऐसा [सन्] होता हुआ (नेदीयसाम्) निकटवर्ती लोगों के (अपि) भी (चेलोपसृष्टमुनिवत्) उपसर्ग आने पर वस्त्र के द्वारा ढके हुये मुनि की तरह [भाति] प्रतीत होता है ॥५॥

भाषार्थः—चारों प्रकार के आहार का त्यागी, स्नान, उबटन, चन्दन आदिक का लेप वा सुगन्धित वस्त्र आभरण का त्यागी तथा आरम्भ और परिग्रह का त्यागी सच्चा प्रोषधी श्रावक

ब्रह्मचर्य का पालक तथा शरीरादिक ममत्व का त्यागी होने से निकटवर्ती लोगों की दृष्टि में और खास कर अन्य अपरिचित लोगों की दृष्टि में उपसर्ग आने पर वस्त्र से ढके हुये मुनि के समान गिना जाता है ॥५॥

सामायिक और प्रोषधोपवास के प्रतिमापने में युक्ति

यत्सामायिकं शीलं, तद्व्रतं प्रतिमावतः ।
यथा तथा प्रोषधोप-वासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥६॥

अन्वयार्थौ—(यथा) जैसे (यत्) जो (सामायिकम्) सामायिक (प्राक्) पहले व्रतप्रतिमा में (शीलम्) शीलरूप [आसीत्] था (तत्) वही सामायिकव्रत (प्रतिमावतः) तीसरी प्रतिमा के पालक श्रावक के (व्रतम्) व्रत [भवति] हो जाता है (तथा) वैसे ही (प्रोषधोपवासः) प्रोषधोपवास (अपि) भी (विज्ञेयः) जानना चाहिये (इति) यही (अत्र) इस सामायिक और प्रोषधोपवास व्रत के प्रतिमारूप होने में (युक्तिवाक्) समाधानवचन [अस्ति] है ॥६॥

भावार्थ—जैसे खेती की रक्षा वाड़ करती है उसी प्रकार अणुव्रतों की रक्षा शील करते हैं इसलिये ये शील सहायकव्रत हैं, मुख्यव्रत नहीं । दूसरीप्रतिमा में यद्यपि बारह ही व्रत पाले जाते हैं, परन्तु पूर्णतया अणुव्रत ही वहां पलते हैं, शीलव्रतों में अतिचार लगते रहते हैं । इसलिये व्रतप्रतिमा में सामायिक और प्रोषधोपवास 'सहायकव्रत' माने गये हैं मुख्यव्रत नहीं, परन्तु तीसरीप्रतिमा में सामायिक और चौथी प्रतिमा में प्रोषधोपवास मुख्यव्रतरूप से स्वीकार किये गये हैं । यही प्रतिमागत शीलों और व्रतों में अन्तर है ॥ ६ ॥

उत्कृष्ट प्रोषधोपवास के आराधक की प्रशंसा

निशां नयन्तः प्रतिमा – योगेन दुरितच्छिदे ।
ये क्षोभ्यन्ते न केनापि, तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥७॥

अन्वयार्थौ—(दुरितच्छिदे) पाप नष्ट करने के लिये (प्रतिमायोगेन) मुनियों के समान कायोत्सर्ग के द्वारा (निशाम्) रात्रि को (नयन्तः) व्यतीत करने वाले (ये) जो व्यक्ति (केन) किसी के द्वारा (अपि) भी (न क्षोभ्यन्ते) समाधि से च्युत नहीं होते (तान्) उन (तुर्यभूमिगान्) चौथी प्रतिमा धारक श्रावकों की (वयम्) हम (नुमः) स्तुति करते हैं ॥७॥

भाषार्थ--जो श्रावक पापों का नाश करने के लिये पर्व की रात्रि को संयमी के समान कायोत्सर्ग-विधान से व्यतीत करते हैं तथा किसी परीषह और उपसर्ग से क्षुब्ध नहीं होते उन चतुर्थप्रतिमाधारियों की हम स्तुति करते हैं ॥७॥

सचित्तत्यागप्रतिमा का लक्षण

हरिताङ्कुरबीजाम्बु – लवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः, सच्चित्तविरतः स्मृतः ॥८॥

अन्वयार्थौ—(चतुर्निष्ठः) प्रथम चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालक [च] तथा (अप्रासुकम्) प्रासुक नहीं किये गये (हरितांकुरबीजाम्बुलवणादि) हरे अंकुर, हरे बीज, जल और नमक आदि पदार्थों को (त्यजन्) नहीं खाने वाला (जाग्रत्कृपः) दयामूर्ति [श्रावकः] श्रावक (सचित्तविरतः) सचित्तत्याग प्रतिमावान् (स्मृतः) माना गया है ॥८॥

भाषार्थ--प्रथम चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालक जो दयालु सचित्त अङ्कुर बीज, पानी, नमक, कन्दमूल, फल और पत्र वगैरह नहीं खाता है वह सचित्तविरत प्रतिमाधारी है ।

सचित्तत्यागप्रतिमाधारी की दया की प्रशंसा

पादेनापि स्पृशन्नर्थ—वशाद्योऽतिऋतीयते ।
हरितान्याश्रितानन्त–निगोतानि स भोक्ष्यते ॥९॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो श्रावक (अर्थवशात्) प्रयोजन वश (पादेन) पैर से (अपि) भी (हरितानि) हरी वनस्पतियों को (स्पृशन्)

छूता हुआ (अतिऋतीयते) अपनी अत्यन्त निन्दा करता है (सः) वह श्रावक (आश्रितानन्तनिगोतानि) मिले हुये हैं अनन्तनिगोदिया जीव जिसमें ऐसी (हरितानि) हरी वनस्पतियों को (भोद्यते किम्) खावेगा क्या ! ।

भावार्थ—पंचमप्रतिमावान् श्रावक अनन्त निगोदियों से आश्रित सचित्त वनस्पति को प्रयोजनवश पैर से भी यदि छू लेवे तो वह पाक्षिक श्रावक की अपेक्षा अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है ऐसी हालत में उसके द्वारा अनन्तनिगोताश्रित सचित्त-वनस्पति का भक्षण कैसे किया जा सकता है ॥९॥

सचित्तत्यागियों की प्रशंसा

अहो जिनोक्तिनिर्णीति—रहो अक्षजितिः सताम् ।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरित्, प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—(सताम्) सज्जनों का (जिनोक्तिनिर्णीतिः) जिनागमसन्बन्धी निर्णय [च] तथा (अक्षजितिः) इन्द्रियविजय (अहो) आश्चर्यजनक है (यत्) क्योंकि (ऐते) ये सज्जन (अलक्ष्यजन्तुः) दिखाई नहीं देते हैं जन्तु जिसमें ऐसी (अपि) भी (हरित्) हरी वनस्पति को (असुक्षये) प्राणों का क्षय होने पर (अपि) भी (न प्सान्ति) नहीं खाते हैं ॥१०॥

भावार्थ--सचित्यागी श्रावक जिनमें प्रत्यक्ष जीव दिखाई नहीं देते हैं तो भी केवल आगम के कथन के विश्वास से उस सचित्त वनस्पति का प्राण जाने पर भी भक्षण नहीं करते। उनका आगम विश्वास और इन्द्रिय विजय प्रशंसनीय है।

विशेषार्थः--"अपि" शब्द से यह सूचित किया गया है कि जब सचित्तत्यागी अदृष्टजन्तु भी वनस्पति का भक्षण नहीं करता तो जिनवस्तुओं में प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राणियों की सत्ता की सम्भावना है उनका भक्षण कैसे कर सकता है ॥१०॥

सचित्तभोजनत्याग अतिचार को पंचमप्रतिमा में व्रतपना

सचित्तभोजनं यत्प्राङ्, मलत्वेन जिहासितम्।
व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्व—चकितस्तच्च पञ्चमः ॥११॥

अन्वयार्थौ—[व्रतिकेन] व्रती श्रावक ने (यत्) जो (सचित्त-भोजनम्) सचित्तभोजन (प्राक्) पहले (मलत्वेन) भोगोपभोगपरिणामव्रत के अतिचाररूप से (जिहासितम्) छोड़ा था (तत्) उस सचित्तभोजन को (अङ्गिपञ्चत्वचकितः) प्राणियों के मरण से भीत (पञ्चमः) पंचम प्रतिमाधारी (व्रतयति) व्रतरूप से छोड़ता है ॥११॥

भाषार्थः—जो सचित्तभोजन व्रतप्रतिमा में भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचाररूप से छोड़ा जाता है उसी सचित्त-भोजन को पंचम प्रतिमाधारी 'व्रत' रूप से छोड़ता है ॥११॥

रात्रिभक्तत्यागप्रतिमा का लक्षण

स्त्रीवैराग्यनिमित्तैक—चित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः।
यस्त्रिधाऽह्नि भजेन्न स्त्रीं, रात्रिभक्तव्रतस्तु सः ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(प्राग्वृत्तनिष्ठितः) प्राथमिक पांच प्रतिमाओं के आचरण में परिपक्व [च] और (स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः) स्त्री से वैराग्य होने के कारणों में दत्तावधान होता हुआ (यः) जो श्रावक (त्रिधा) मन वच काय और कृत कारित अनुमोदना से (अह्नि) दिन में (स्त्रीम्) स्त्री को (न भजेत्) सेवन नहीं करता है (सः) वह (रात्रिभक्त-व्रतः) रात्रिभक्तत्याग प्रतिमा वाला (भवेत्) कहलाता है ॥१२॥

भाषार्थः—जिनागम में कामदोष, स्त्रीदोष, स्त्रीसंगदोष और अशौच इन चारों का चिन्तवन तथा आर्यपुरुषों की संगति इन पांचों को स्त्री से वैराग्य होने का कारण माना है। जो व्यक्ति इन पांचों कारणों के चिन्तवन में चित्त एकाग्र करके पहले कहो

गई पांचों प्रतिमाओं को निरतिचार पालते हुए मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से दिन में स्त्रीसेवन नहीं करता है वह रात्रिभक्तत्याग प्रतिमावान कहलाता है ॥१२॥

दिवामैथुनत्यागी की प्रशंसा

अहो चित्रं धृतिमतां, सङ्कल्पच्छेदकौशलम् ।
यन्नाम्नि मुदे साऽपि, दृष्टा येन तृणायते ॥१३॥

अन्वयार्थौ—(यन्नाम) जिस स्त्री की नाम (अपि) भी (मुदे) आनन्द के लिये (भवति) होता है, ऐसी (दृष्टा) चक्षु के द्वारा देखी गई (अपि) भी (सा) वह स्त्री (येन) जिन मनोव्यापार के सामर्थ्य से (तृणायते) तृण के समान मालूम होती है (धृतिमताम्) धैर्यशाली पुरुषों का (तत्) वह (सङ्कल्पच्छेदकौशलम्) मनोव्यापार के निरोध का सामर्थ्य (अहो चित्रम्) बहुत ही आश्चर्यकारक है ॥१३॥

भावार्थः—छटवीं प्रतिमाधारी विलक्षणधृति के धारक श्रावक का मनोनिग्रह कितना उत्तम है कि जिस कामिनी के नाममात्र के श्रवण से लोगों को आनन्द की कल्पना होती है उसको प्रत्यक्ष देखते हुए भी तृणवत् मानता है। अर्थात् उसे वह भोगरूप मे प्रतिभासित नहीं होती ॥१३॥

रात्रि आदिक में भी मैथुनसेवन का निर्धार

रात्रावपि ऋतावेव, सन्तानार्थमृतावपि ।
भजन्ति वशिनः कान्तां, न तु पर्वदिनादिषु ॥१४॥

अन्वयार्थौ—(वशिनः) जितेन्द्रिय व्यक्ति (रात्रौ) रात्रि में (अपि) भी (ऋतौ) ऋतुकाल में (एव) ही (ऋतौ) ऋतुकालमें (अपि) भी (सन्तानार्थम्) सन्तान के लिये (एव) ही (कान्ताम्) स्त्री को (भजन्ति) सेवन करते हैं (तु) किन्तु (पर्वदिनादिषु) अष्टमी आदि पर्व के दिनों में (तु)

तो (कथम् अपि) किसी तरह भी (कान्ताम्) स्त्री को (न भजन्ति) सेवन नहीं करते ॥१४॥

भाषार्थः—जितेन्द्रिय पुरुष रात्रि में ही, ऋतुकाल में ही, केवल सन्तान की चाह से ही स्त्रीसेवन करते हैं, विषयसुख की अभिलाषा से नहीं। तथा अष्टमी और आष्टाह्निका आदि पर्व दिनों में स्त्रीसेवन का सर्वथा परित्याग करते हैं ॥१४॥

रात्रिभक्तव्रतशब्द की निरुक्ति और लक्षण

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ, स्त्रीसेवावर्तनादिह।
निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ, चतुराहारवर्जनात् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(इह) इस ग्रन्थ में (रात्रौ) रात्रि में (स्त्रीसेवा-वर्तनात्) स्त्रीसेवन का व्रत ग्रहण करने से (रात्रिभक्तव्रतः) रात्रिभक्तव्रती (निरुच्यते) कहा गया है (च) और (अन्यत्र) दूसरे ग्रन्थों में (रात्रौ) रात्रि में (चतुराहारवर्जनात्) चारों ही प्रकार के आहारों को छोड़ने से (रात्रि-भक्तव्रतः) रात्रिभक्तत्यागी (निरुच्यते) कहा जाता है ॥१५॥

भाषार्थः—चारित्रसार आदि शास्त्रों के अनुसार लिखे हुए इस ग्रन्थ में रात्रि में ही स्त्रीसेवन करना दिन में स्त्रीसेवन नहीं करना) रात्रिभक्तव्रत माना गया है और रत्नकरण्ड आदि शास्त्रों में भक्तशब्द का अर्थ आहार मानकर रात्रि में चार प्रकार के आहार के त्याग को रात्रिभक्त कहा है ॥१५॥

विशेषार्थः—पं० आशाधर जी ने 'रात्रौ भक्तं स्त्रीभजनं व्रतयति इति रात्रिभक्तव्रतः' रात्रिभक्तव्रतशब्द की ऐसी निरुक्ति की है। और श्रीसमन्तभद्राचार्य ने × 'रात्रौ भक्तं चतुर्विधाहारं व्रतयतीति रात्रिभक्तव्रतः' ऐसी निरुक्ति की है ॥१५॥

× *अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।*
स च रात्रिभक्तविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिमा का लक्षण

तत्तादृक्संयमाभ्यास—वशीकृतमनास्त्रिधा।
यो जात्वशेषा नो योषा, भजति ब्रह्मचार्यसौ ॥१६॥

अन्वयार्थौ–(तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनाः) उस अर्थात् पूर्वोक्त छह प्रतिमाओं में कहे गये और उस प्रकार के अर्थात् क्रम से बढ़ाये गये संयम के अभ्यास से वश में कर लिया है मन को जिसने ऐसा (यः) जो श्रावक (त्रिधा) मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदना से (अशेषाः) सम्पूर्ण (योषाः) स्त्रियों को (जातु) कभी भी (न भजति) सेवन नहीं करता है (असौ) वह श्रावक (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्य प्रतिमावान् [कथ्यते] कहलाता है ॥१६॥

भाषार्थः--पूर्व प्रतिमाओं में आचरित एकदेश प्राणिसंयम और एकदेश इन्द्रियसंयम के अभ्यास से जिसने अपने मन को वश में कर लिया है और इसी कारण से जो देवाङ्गनाओं तिर्यञ्चनियों और मनुष्यनियों तथा उनके चित्रादिकों का मन वचन और काय से कभी भी सेवन नहीं करता वह ब्रह्मचर्य प्रतिमावान् कहलाता है ॥१६॥

ब्रह्मचारी की प्रशंसा

अनन्तशक्तिरात्मेति, श्रुति र्वस्त्वेव न स्तुतिः।
यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव, जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—(आत्मा) आत्मा (अनन्तशक्तिः) अनन्तशक्ति वाला [अस्ति] है (इति) यह (श्रुतिः) आगम का उपदेश (वस्तु) यथार्थ (एव) ही (अस्ति) है (स्तुतिः) प्रशंसामात्र (नास्ति) नहीं है (यत्) क्योंकि (स्वद्रव्ययुक्) आत्मद्रव्य को ग्रहण करने वाला–आत्मस्वरूप में लीन होने वाला (आत्मा) आत्मा (एव) ही (जगज्जैत्रम्) संसार के प्राणियों को जीतने वाले (स्मरम्) काम को (जयेत्) जीतता है।

भाषार्थः—आत्मा अनन्तशक्ति वाला है यह कथन यथार्थ है, प्रशंसामात्र नहीं। क्योंकि अपने ब्रह्म में लीन होने वाला ब्रह्मचारी आत्मा अनन्तसंसारी जीवों पर विजय प्राप्त करने वाले जगज्जेता काम को जीतता है। अर्थात् अनन्तप्राणियों के विजेता काम को जीतने से आत्मलीन आत्मा अनन्तशक्ति वाला सिद्ध होता है ॥१७॥

ब्रह्मचर्य की महिमा

विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति, किङ्करन्त्यमरा अपि।
क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नापि, निर्मलब्रह्मचारिणाम् ॥१८॥

अन्वयार्थौ—(निर्मलब्रह्मचारिणाम्) निरतिचार ब्रह्मचर्यपालकों के (विद्याः) विद्याएँ (च) और (मन्त्राः) मन्त्र (सिध्यन्ति) सिद्ध हो जाते हैं (अमराः) देव (अपि) भी (किङ्करन्ति) नोकर के समान आचरण करते हैं [च] और (नाम्ना) नामोच्चारणमात्र से (अपि) भी (क्रूराः) दुष्ट प्राणी (शाम्यन्ति) शान्त हो जाते हैं ॥१८॥

भाषार्थः—निर्मल ब्रह्मचारियों को विद्या और मंत्र सिद्ध होने हैं। उनके सामने देव भी किङ्कर बनते हैं। उनके नाममात्र से ब्रह्मराक्षस आदि क्रूर देव भी शान्त हो जाते हैं ॥१८॥

विशेषार्थः—इस श्लोक में आये हुये अपि शब्द से यह ध्वनित होता है कि जिनके नामोच्चारणमात्र से क्रूर शान्त हो जाते हैं, उनकी स्वयं उपस्थिति के माहात्म्य का कहां तक वर्णन किया जा सकता है ॥१८॥

ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन वा नैष्ठिक की विशेषता

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता, ये पञ्चोपनयादयः।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्यु- र्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो (प्रथमाश्रमिणः) प्रथम आश्रम वाले-मौजीबन्धन-पूर्वक व्रतग्रहण करने वाले (उपनयादयः) उपनय आदिक पांच प्रकार के ब्रह्मचारी (प्रोक्ताः) कहे गये हैं (ते) वे सब (नैष्ठिकात् अन्यत्र) नैष्ठिक के बिना शेष सब (शास्त्रम्) शास्त्रों को (अधीत्य) पढ़कर (दारान्) स्त्री को (स्वीकुर्युः) स्वीकार कर सकते हैं ॥१६॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी के पांच भेद हैं। उपनय, अवलम्ब अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक। इनमें से नैष्ठिक विवाह नहीं करा सकता है। शेष चार विद्याध्ययन के बाद विवाह करा सकते हैं।

विशेषार्थ—यज्ञोपवीत के धारक समस्तविद्याओं का अभ्यास करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी कहलाते हैं। क्षुल्लकरूप से रहकर आगम का अध्ययन पूरा करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाते हैं। बिना किसी भेष के अध्ययन करके जो गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जो कुमार मुनि बन कर विद्या का अभ्यास करते हैं और दुःसहपरीषह, बन्धुजन की प्रेरणा या राजा की शासनसत्ता आदि के कारण मुनिवेश को छोड़कर गृहस्थधर्म स्वीकार कर लेते हैं वे गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाते हैं। तथा चोटी रखने वाले और देवपूजा में तत्पर नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं ॥१६॥

वर्णाश्रमव्यवस्था का प्रतिपादन

ब्रह्मचारी गृही वान—प्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे ।
चत्वारोऽङ्गे क्रिया भेदा—दुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—(सप्तमे) सप्तम (अङ्गे) अङ्ग में (वर्णवत्) वर्ण की तरह (क्रियाभेदात्) क्रिया के भेद से (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (गृही) गृहस्थ (वानप्रस्थः) वानप्रस्थ (च) और (भिक्षुः) भिक्षु [इति] ये (चत्वारः) चार (आश्रमाः) आश्रम (उक्ताः) कहे गये हैं ॥२०॥

भाषार्थः—सप्तम उपासकाध्ययन अङ्ग में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे गये हैं। वर्णव्यवस्था के समान क्रिया के भेद से इनमें भेद है ॥२०॥

विशेषार्थः—जो चोटी रखता है, शुक्लवस्त्र पहिनता है, लँगोटी लगाता है, जिसका वेश विकाररहित है तथा जो व्रत के चिह्नरूप सूत्र को धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। ब्रह्मचारी का नाम परिवर्तन कर दिया जाता है। और राजकुमार को छोड़कर शेष सब ब्रह्मचारी भिक्षा से अपना उदर-निर्वाह करते हैं।

जो पूर्वोक्त नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठान में स्थित रहता है उसे गृहस्थ कहते हैं। जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय के भेद से क्षत्रिय दो प्रकार का है। जाति क्षत्रिय के ४ भेद हैं। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र। अपनी अपनी आजीविका के भेद से तीर्थ क्षत्रिय अनेक प्रकार के हैं।

जिन्होंने जिनरूप को धारण नहीं किया है, जो खण्डवस्त्र धारण करते हैं और जो निरतिशय तपश्चर्या में उद्यत होते हैं उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं। जो जिनरूप को धारण करते हैं उन्हें भिक्षु कहते हैं।

मुनि के अनेक भेद हैं। देशप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष ज्ञान के धारी को मुनि कहते हैं। ऋद्धिप्राप्त साधु को ऋषि कहते हैं। दोनों श्रेणियों पर आरूढ़ साधु को जिनयति कहते हैं। दूसरे साधुवर्ग को अनागार कहते हैं। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण-महानस ऋद्धि के धारक को राजर्षि कहते हैं। बुद्धिऋद्धि और औषधऋद्धि के अधिपति को ब्रह्मर्षि कहते हैं। विविध नयों में पटु व्यक्ति को देवर्षि कहते हैं। और जो विश्व का वेत्ता है उसे परमर्षि कहते हैं ॥२०॥

आरम्भत्यागप्रतिमा का लक्षण

निरूढसप्तनिष्ठो ऽङ्गि—घाताङ्गत्वात् करोति न ।
न कारयति कृष्यादी—नारम्भविरतस्त्रिधा ॥२१॥

अन्वयार्थौ—(निरूढसप्तनिष्ठः) प्राथमिक सात प्रतिमाओं का निर्दोष पालक (यः) जो (श्रावकः) श्रावक (अङ्गिघाताङ्गत्वात्) प्राणिहिंसा का कारण होने से (कृष्यादीन्) खेती आदि कर्मों को (त्रिधा) मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदना से (न करोति) न स्वयं करता है [च] तथा (न कारयति) न दूसरों से करवाता है (सः) वह श्रावक (आरम्भविरतः) आरम्भत्याग प्रतिमा वाला [निगद्यते] कहलाता है ॥२१॥

भाषार्थः—पहली सात प्रतिमाओं का निर्दोष पालक जो व्यक्ति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से आरम्भ का त्याग करता है वह आरम्भत्याग नामक अष्टमप्रतिमा का धारक कहलाता है। जो सात प्रतिमाओं को निर्दोषरीति से पालते हुये भी पुत्रादिक के प्रति अनुमति के न देने में कदाचित् असमर्थ हो तो वह छह भंग से भी आरम्भत्याग करता हुआ आरम्भत्याग प्रतिमावान् कहलाता है ॥२१॥

विशेषार्थः—कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि व्यापारों को आरम्भ कहते हैं किन्तु दान, अभिषेक, पूजन आदि को आरम्भ नहीं कह सकते, क्योंकि ये दानादिक प्राणिघात के अङ्ग नहीं हैं।

आरम्भत्यागी की प्रशंसा

यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत्, त्यक्तुं भक्तमपीच्छति ।
प्रवर्तयेत्कमसौ, प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—(मुमुक्षुः) मोक्ष की इच्छा रखने वाला (यः) जो [आरम्भविरतः] आरम्भविरत श्रावक (अघात्) पाप से (बिभ्यत्)

डरता हुआ (भक्तम्) भोजन को (अपि) भी (त्यक्तुम्) छोड़ने के लिये (इच्छति) इच्छा करता है (असौ) वह अरम्भविरत श्रावक (प्राणिसंहरणीः) प्राणिघातकारक (क्रियाः) क्रियाओं को (कथम्) किस प्रकार (प्रवर्तयेत्) करेगा और करावेगा ॥२२॥

भाषार्थः—जो मुमुक्षु पापों से डरता हुआ प्राणिघात में कारण पड़ने वाले भोजन के भी त्याग की सदैव अभिलाषा रखता है वह प्राणियों के संहार की कारणभूत क्रियाओं को कैसे कर सकता है। अर्थात् आठवीं प्रतिमा वाला श्रावक आरम्भ नहीं कर सकता ॥२२॥

परिग्रहत्यागप्रतिमा का लक्षण

स ग्रन्थविरतो यः, प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः ।
नैते मे नाहमेतेषा--मित्युज्झति परिग्रहान् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—(प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः) पूर्वोक्त आठ प्रतिमाविषयिक व्रतों के समूह से स्फुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा (यः) जो (श्रावकः) श्रावक (एते) ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ (मे) मेरे (न) नहीं हैं। और (अहम्) मैं (एतेषाम्) इनका (न) नहीं हूँ (इति) ऐसा (सङ्कल्प्य) संकल्प करके (परिग्रहान्) वास्तु और क्षेत्र आदिक दश प्रकार के परिग्रहों को (उज्झति) छोड़ देता है (सः) वह श्रावक (ग्रन्थविरतः) परिग्रहत्याग प्रतिमावान् (कथ्यते) कहलाता है ॥२३॥

भाषार्थः-प्रथम आठ प्रतिमाओं का पूर्णरूप से पालन करने से जिसका धैर्य सदा जागृत रहता है और जो क्षेत्र वास्तु आदि दश बाह्य परिग्रह मेरे योग्य नहीं हैं और मैं भी इनका स्वामी नहीं हूँ इस प्रकार ममकार और अहंकार के त्याग के भाव को धारण करके सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करता है, परन्तु केवल अपने पद के योग्य संयम के साधनों को रखता है वह परिग्रहत्याग प्रतिमाबान् कहलाता है ॥२३॥

सकलदत्ति का वर्णन

अथाहूय सुतं योग्यं, गोत्रजं वा तथाविधम् ।
ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षा–ज्जातिज्येष्ठसधर्मणाम् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(अथ) इसके अनन्तर (प्रशान्) शान्तचित्त नवम प्रतिमावान् श्रावक (योग्यम्) योग्य अर्थात् अपने भार को चलाने में समर्थ (सुतम्) पुत्र को (वा) अथवा योग्य पुत्र के अभाव में (तथाविधम्) योग्यपुत्र के समान (गोत्रजम्) भाई या उनके पुत्र आदि को (आहूय) बुला करके (जातिज्येष्ठसधर्मणाम्) सजातीर्थ मुखिया और साधर्मियों के (साक्षात्) समक्ष (इदम्) इस वक्ष्यमाण वचन को (ब्रूयात्) कहै ॥२४॥

भाषार्थः—प्रशमभाव का धारक व्यक्ति योग्य अपने पत्र अथवा उसके अभाव में गोत्रज योग्य पुत्र को बुला कर सजातीय मुखियों और साधर्मियों के समक्ष यह वक्ष्यमाण वचन कहे ।

विशेषार्थः—श्लोक में आया हुआ 'अथ' शब्द अधिकार वाचक है । जिससे यह सूचित होता है कि अब सकलदत्ति के वर्णन का प्रारम्भ किया जाता है ॥२४॥

नवमप्रतिमाधारी का पुत्र या गोत्रज के लिये आत्मपदसमर्पण

ताताद्य यावदस्माभिः, पालितोऽयं गृहाश्रमः ।
विरज्यैनं जिहासूनां, त्वमद्यार्हसि नः पदम् ॥२ ॥

अन्वयार्थौ—(हे तात) हे प्रियपुत्र (अद्य यावत्) आज तक (अस्माभिः) हमने (अयम्) यह (गृहाश्रमः) गृहस्थाश्रम (पालितः) पालन किया (अद्य) आज (विरज्य) विरक्त होकर के (एनम्) इस गृहस्थाश्रम को (जिहासूनाम्) छोड़ने की इच्छा करने वाले (नः) हमारे (पदम्) स्थान को [स्वीकर्त्तुम्] स्वीकार करने के लिये (त्वम्) तुम (अर्हसि) योग्य हो ॥२५॥

भाषार्थः—हे तात! यह गृहस्थाश्रम हमने नवमी प्रतिमा तक चलाया। अब हम संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर इसको छोड़ना चाहते हैं। इसलिये हमारे इस पद को सम्हालने के लिये तुम योग्य हो ॥२५॥

उत्तमपुत्र का लक्षण

पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं, सुविधेरिव केशवः।
यः उपस्कुरुते वप्तु – रन्यः शत्रुःसुतच्छलात् ॥२६॥

अन्वयार्थौ—(सुविधेः) सुविधिनामक राजा के (केशवः इव) केशवपुत्र की तरह (स्वात्मानम्) अपनी आत्मा को (पुपूषोः) शुद्ध करने की इच्छा करने वाले (वप्तुः) पिता का (यः) जो (उपस्कुरुते) उपकार करता है (सः) वह (पुत्रः) पुत्र [भण्यते] कहलाता है। और (अन्यः) इससे भिन्न पुत्र (सुतच्छलात्) पुत्र के बहाने से (शत्रुः) शत्रु [अस्ति] है ॥२६॥

भाषार्थः—आत्मकल्याण के इच्छुक पिता के प्रति केशव के समान जो पिता की आत्मा का धर्माराधन में उपकार करता है उसको पुत्र कहते हैं किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह पुत्र के व्याज से शत्रु है ॥२६॥

विशेषार्थः—ऋषभदेव अपने एक भव में सुविधि राजा थे। सुविधि के पूर्वभव की पत्नी का नाम श्रीमती था। यह श्रीमती का जीव मरने पर सुविधि राजा के केशव नामक पुत्र हुआ था। पुत्रप्रेमवश सुविधि गृहस्थाश्रम छोड़ने में असमर्थ थे। इससे श्रावक रहते हुये भी उत्कृष्ट तप तपते थे और केशव पुत्र उन्हें अधिकाधिक सहायता पहुँचाता था ॥२६॥

सकलदत्ति का उपसंहारात्मक लक्षण

तदिदं मे धनं धर्म्यं, पोष्यमात्मसात्कुरु।
सैषा सकलदत्ति हिं, परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—(तत्) इसलिये । हे प्रिय पुत्र (मम) मेरे (इदम्) इस (धनम्) धन को (धर्म्यम्) पात्रदानादिकरूप धार्मिक क्रियाओं को (अपि) और (पोष्यम्) पालन पोषण करने योग्य स्त्री माता पिता आदि को (त्वम्) तुम (आत्मसात्कुरु) अपने आधीन करो (हि) क्योंकि (सा) आगम में कही गई (एषा) यह (सकलदत्तिः) सकलदत्ति (शिवार्थिनाम्) मोक्ष चाहने वालों के (परम्) अत्यन्त (पथ्या) कल्याणकारिणी [विद्यते] है ॥२७॥

भावार्थः—हे पुत्र ! मेरे इस ग्राम तथा स्वर्ण आदिक धन और पोष्यवर्ग गृहिणी, माता, पिता आदिक एवं चैत्यालय अदिक को तुम अपने आधीन करो । परिग्रहत्यागी श्रावक इस प्रकार अपना भार पुत्रादिक को सोपे । इसी का नाम सकलदत्ति है । यह संसार का परित्याग करते समय योग्य पुत्रादिक को दी जाती है और शिवार्थियों के लिये विशेष कल्याणकारिणी है ।

गृहस्थाश्रम के इस प्रकार से परित्याग का कारण

विदीर्णमोहशार्दूल — पुनरुत्थानशङ्किनाम् ।
त्यागक्रमोऽयं गृहिणां, शक्त्यारम्भो हि सिद्धिकृत् ॥२८॥

अन्वयार्थौ— (विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशङ्किनाम्) नष्ट किये गये मोहरूपी व्याघ्र के फिर से उठने की शंका करने वाले (गृहिणाम्) गृहस्थों का (अयम्) यह (त्यागक्रमः) त्याग का क्रम [विद्यते] है (हि) क्योंकि (शक्त्या) अपनी शक्ति के अनुसार [एव] ही (आरम्भः) किया गया आरम्भ (सिद्धिकृत्) अभिलषित को सिद्ध करने वाला [भवति] होता है ॥२८॥

भावार्थः—शार्दूल के समान प्रबल मोहरूपी शत्रु फिर जागृत न हो जावे इसलिये जिन्होंने उत्तरोत्तर प्रतिमाओं में मोह के नष्ट करने के लिये प्रयत्न किया है उन गृहस्थों के अन्तरङ्ग

और बहिरङ्ग परिग्रह के त्याग का क्रम पूर्वोक्त ही है। क्योंकि शक्ति के अनुसार किया गया आरम्भ ही इस भव और परभव में सिद्धिदायक होता है ॥ २८ ॥

परिग्रहत्याग के बाद कुछ काल घर में रहने का विधान

एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं, मोहाभिभवहानये।
किञ्चित्कालं गृहे तिष्ठे-दौदास्यं भावयन्सुधीः ॥२६॥

अन्वयार्थौ--(सुधीः) तत्त्वज्ञानी श्रावक (एवम्) इस प्रकार (सर्वस्वम्) सम्पूर्ण परिग्रह को (व्युत्सृज्य) छोड़कर (मोहाभिभवहानये) मोह के द्वारा होने वाले आक्रमण को नष्ट करने के लिये (औदास्यम्) उपेक्षा को (भावयन्) विचारता हुआ (किञ्चित् कालम्) कुछ काल तक (गृहे) घरे में (तिष्ठेत्) रहे ॥२६॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञानी श्रावक इस प्रकार सर्व परिग्रह का त्याग कर मोह के आक्रमण से बचने के लिये उदासीनता की भावना भाते हुये कुछ काल तक घर में और रहे ॥ २६ ॥

विशेषार्थः—'गृहे तिष्ठेत्' इस वाक्य से अपने अंगों के आच्छादन के लिये वस्त्रमात्र धारण करता है तो भी उसके वस्त्र में ममत्व नहीं है यह सिद्ध होता है, क्योंकि यह परिग्रह का त्याग कर के घर में रहता है। 'किचित्कालम्' इस पद से श्वेताम्बर परिकल्पित प्रतिमाओं के काल का निराकरण किया गया है ॥२६॥

अनुमतित्यागप्रतिमा का लक्षण

नवनिष्ठापरः सोऽनु – मतिव्युपरतस्त्रिधा।
यो नानुमोदते ग्रन्थ – मारम्भं कर्म चैहिकम् ॥३०॥

अन्वयार्थौ—(नवनिष्ठापरः) प्राथमिक नौ प्रतिमाओं के पालन में तत्पर (यः) जो (श्रावकः) श्रावक (त्रिधा) मन वचन काय से (ग्रन्थम्) धन धान्यादिक परिग्रह को (आरम्भम्) कृष्यादिक आरम्भ

को (च) और (ऐहिकम्) इस लोक सम्बन्धी (कर्म) विवाहादिक कार्यों को (न अनुमोदते) अनुमोदना नहीं करता है अर्थात् उक्त कार्यों के विषय में अपनी अनुमति नहीं देता है (सः) वह श्रावक (अनुमति-व्युपरतः) अनुमति त्याग प्रतिमावान् (कथ्यते) कहलाता है ॥३०॥

भावार्थः—जो व्यक्ति प्रथम नव प्रतिमाओं को पूर्ण पालता हुआ धन धान्यादिक परिग्रह, कृषि आदिक व्यापार और विवाहादि ऐहिक कर्म का अनुमोदन मन, वचन और काय से नहीं करता है उसे अनुमतिविरत श्रावक कहते हैं ॥३०॥

दशम प्रतिमा की विधि

चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं, कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात् ।
ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽद्याद्, गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१॥

अन्वयार्थौ—(सः) वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी (चैत्यालयस्थः) चैत्यालय में स्थित होता हुआ (स्वाध्यायम्) स्वाध्याय को (कुर्यात्) करे । (च) और (मध्याह्नवन्दनात् ऊर्ध्वम्) मध्याह्न वन्दना के बाद (आमन्त्रितः) आमन्त्रित होता हुआ (स्वस्य) अपने पुत्रादिक के (गृहे) घर में (वा) अथवा (परस्य) जिस किसी धार्मिक व्यक्ति के (गृहे) घर में (अद्यात्) भोजन करे । यह दशमप्रतिमा की विधि है ।

भावार्थः—दशम प्रतिमाधारी श्रावक चैत्यालयमें स्वाध्याय करे और पुत्रादिक के अथवा सद्धर्मी जन के आमन्त्रण देने पर मध्याह्न सामायिक के पहले उनके घर भोजन करे ॥३१॥

अनुमतित्यागी के भिक्षाभोजन की भावना

यथाप्राप्तमदन्देह—सिद्ध्यर्थं खलु भोजनम् ।
देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं, मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२॥
सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं, सावद्याविष्टमश्नतः ।
कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये, इति चेच्छेज्जितेन्द्रियः ॥३३॥

अन्वयार्थौ—(यथाप्राप्तम्) कर्मानुसार प्राप्त आहार को (अदन्) खाने वाला (जितेन्द्रियः) जितेन्द्रिय अनुमतित्यागी (इति) इस प्रकार (इच्छेत्) इच्छा करे [यत्] कि—(मुमुक्षुभिः) मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के द्वारा (देहसिद्ध्यर्थम्) शरीर की रक्षा के लिये (भोजनम्) भोजन (च) और (धर्मसिद्ध्यर्थम्) धर्म की सिद्धि के लिये (देहः) शरीर (खलु) निश्चय से (अपेक्ष्यते) अपेक्षित होता है। किन्तु (सावद्याविष्टम्) सावद्य कर्म से मिले हुए (उद्दिष्टम्) अपने निमित्त से बनाए गए आहार को (अश्नतः) खाने वाले (मम) मेरे (सा) वह धर्म की सिद्धि (कथम्) कैसे (स्यात्) होगी (तत्) इसलिये (अहम्) मैं (भैक्ष्यामृतम्) भिक्षारूपी अमृत को (कर्हि) कब (भोक्ष्ये) खाऊंगा।

भाषार्थः—अनुमतित्यागी जो कुछ शुद्ध भोजन मिलता है उसे खाता है और इस प्रकार इच्छा करता है कि मुमुक्षुओं के द्वारा देह की स्थिति के लिये भोजन और रत्नत्रय की सिद्धि के लिये देह अपेक्षित होता है, किन्तु सावद्य कर्म से मिले हुये अपने निमित्त बनाये गये आहार को खाने वाले मेरे वह धर्म की सिद्धि कैसे होगी? इसलिये मैं भिक्षारूपी अमृत को कब खाऊंगा?॥ ३२। ३३॥

अनुमतित्यागी के गृहत्याग की विधि

पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो, निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात्।
आपृच्छेद् गुरून् बन्धून्, पुत्रादींश्च यथोचितम् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—(पञ्चाचारक्रियोद्युक्तः) पञ्चाचार के पालन में तत्पर [च] और (गृहात्) घर से (निष्क्रमिष्यन्) निकलने की इच्छा करने वाला (असौ) यह श्रावक (गुरून्) गुरुओं से (बन्धून्) बन्धुओं से (च) और (पुत्रादीन्) पुत्रादिकों से (यथोचितम्) यथायोग्य (आपृच्छेत्) पूछे ॥३४॥

भाषार्थः—यह श्रावक द्रव्य और भावरूपी घर से निकलते समय पञ्चाचार क्रियासहित होकर यथायोग्यरीति से गुरु, बन्धु और पुत्र आदिक से पूछे ॥ ३४ ॥

विशेषार्थः—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार ये पांच आचार हैं। काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यञ्जन और तदुभय इन आठ अंगों से युक्त हे ज्ञान ! यह निश्चित समझो कि तुम शुद्ध आत्मा के नहीं हो। तुम्हारा आश्रय हम तभी तक लेतेहैं जबतक हमें शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती है। तुम मार्ग हो, साध्य नहीं। इसी प्रकार पांचों आचारों के चिन्तवन में विचार करना चाहिये। २—निःशंकित आदि अङ्गसहित हे दर्शनाचार ! ३—पञ्चमहाव्रत, तीनगुप्ति, पांच-समिति रूप हे त्रयोदशविध चारित्राचार ! ४—अनशनादि छह बहिरङ्ग और प्रायश्चित्तादि अन्तरङ्ग भेदरूप हे तप आचार तथा ५—समस्त इतर आचार प्रवर्तक और अपनी शक्ति को नहीं छिपाने रूप हे वीर्याचार ! तुम तभी तक हमारे हो जब तक हमने शुद्धात्मा को नहीं पाया है। इस प्रकार चिंतवन करे। इसी प्रकार हे मेरे शरीर के माता, पिता, स्त्री और पुत्र के आत्मन् ! तुम अपने अन्तरङ्ग में समझो कि मैं वास्तव में तुम्हारा नहीं हूँ, इस लिये मुझसे मोह मत करो। इस प्रकार से यह आत्मा गृहत्याग कर शुद्धोत्मोपलब्धि की ओर बढ़ता है ॥ ३४ ॥

विनय और आचार में अन्तर

सुदृङ्निवृत्ततपसां, मुमुक्षो र्निर्मलीकृतौ ।
यत्नो विनय आचारो, वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥३५॥

अन्वयार्थौ—(मुमुक्षोः) मोक्ष की इच्छा रखने वाले श्रावक का (सुदृङ्निवृत्ततपसाम्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप के (निर्मलीकृतौ) निर्दोष करने के विषय में (यत्नः) प्रयत्न (विनयः)

विनय [भण्यते] कहलाता है (तु) और (शुद्धेषु) निर्मल किये गये (तेषु) उन सम्यग्दर्शनादिक के विषय में (यत्नः) प्रयत्न (आचारः) आचार [भण्यते [कहलाता है ॥३५॥

भाषार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप को निर्दोष करने के लिये जो यत्न किया जाता है उसे विनय कहते हैं और निर्दोष हुये इन चारों में अपनी शक्ति को नहीं छिपा कर जो यत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं ॥ ३५ ॥

साधत्व कयोग्य प्रतिमा

इति चर्यां गृहत्याग-पर्यन्तां नैष्ठिकाग्रणीः ।
निष्ठाय साधकत्वाय, पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥३६॥

अन्वयार्थौ—(नैष्ठिकाग्रणीः) नैष्ठिकों में मुख्य अनुमतित्याग प्रतिमावान् श्रावक (इति) पूर्वोक्त कथनानुसार (गृहत्यागपर्यन्ताम्) गृहत्यागपर्यन्त (चर्याम्) गृहस्थाचार को (निष्ठाय) समाप्त करके (साधकत्वाय) साधकत्व की प्राप्ति अर्थात् आत्मशुद्धि के लिये (पौरस्त्यपदम्) अग्रिम पद को (आश्रयेत्) धारण करे ॥३६॥

भाषार्थः—दशमीप्रतिमा नैष्ठिक श्रावक का उत्कृष्ट स्थान है। यहां पर श्रावक का नैष्ठिकपना पूरा हो जाता है। दशम प्रतिमाधारी इस नैष्ठिकत्व को पूर्ण करके साधकत्व की प्राप्ति (आत्मशुद्धि) के लिये ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को ग्रहण करने के लिये प्रयत्नवान् हो ॥ ३६ ॥

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का लक्षण

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्न—श्वसन्मोहमहाभटः ।
उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झे—दुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥३७॥

अन्वयार्थौ—(तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः) उन पूर्वोक्त व्रतरूपी अस्त्रों के प्रहार से अत्यन्त नष्ट हो करके भी श्वास लेता हुआ है

मोहरूपी महाभट जिसके ऐसा [यः] जो श्रावक (उद्दिष्टम्) उद्दिष्ट--अपने उद्देश से बनाये गये (पिण्डम्) भोजन को (अपि) और आसन आदिक को भी (उज्झेत्) छोड़ता है [सः] वह (अन्तिमः) ग्यारहवीं प्रतिमाधारी (उत्कृष्टः) उत्कृष्ट (श्रावकः) श्रावक [कथ्यते] कहलाता है।

भावार्थः जो पूर्वोक्त दश प्रतिमाओं में परिपक्व होकर अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन और आसन आदिक को भी ग्रहण नहीं करता वह ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है ।। ३७ ।।

क्षुल्लक का कर्त्तव्य

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रु – मूर्धजानपनाययेत् ।
सितकौपीनसंव्यानः, कर्तर्या वा क्षुरेण वा ।।३८।।

अन्वयार्थौ—(सः) वह उद्दिष्टविरतश्रावक (द्वेधा) दो प्रकार का [विद्यते] है [तत्र] उनमें (प्रथमः) पहला क्षुल्लक (सितकौपीनसंव्यानः) केवल सफेद लंगोटी और ओढ़नी का धारक [सन्] होता हुआ (श्मश्रुमूर्धजान्) अपने डाढ़ी मूछ व शिर के बालों को (कर्त्तर्या) कैंची से (वा) अथवा (क्षुरेण) क्षुरा से (अपनाययेत्) अलग करे।।३८।।

भाषार्थः—ग्यारहवीं प्रतिमा के प्रथम और द्वितीय दो भेद हैं। उनमें प्रथम (क्षुल्लक) सफेद लंगोटी और चद्दर रखता है तथा कैंची या क्षुरा से अपनी मूछ दाढ़ी और सिर के बालों को बनवाता है ।। ३८ ।।

विशेषार्थः--यहां ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के भेद क्षुल्लक और ऐलक नाम से नहीं किये गये हैं, तो भी ग्रन्थकार का अभिप्राय क्षुल्लक और ऐलक की वृत्ति के प्रतिपादन का ही है। क्षुरे की अपेक्षा कैंची से बालों का कटवाना श्रेयस्कर है। क्योंकि उसके

बालों की शोभा की इच्छा नहीं होती। इस श्रावक के कांख आदि के बालों को कटवाने का विधान नहीं है ॥३८॥

क्षुल्लक के प्रतिलेखन वा पर्वोपवास

स्थानादिषु प्रतिलिखेद्, मृदूपकरणेन सः।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्या—मुपवासं चतुर्विधम् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—(सः) वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (मृदूपकरणेन) प्राणियों को बाधा नहीं पहुंचाने वाले कोमल वस्त्र आदिक उपकरण से (स्थानादिषु) स्थान आदिक में (प्रतिलिखेत्) शुद्धि करे [च] और (चतुष्पर्व्याम्) प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चारों पर्व दिनों में (चतुर्विधम्) खाद्य, स्वाद्य, लेह्य पेय पदार्थ के त्याग रूप चार प्रकार के (उपवासम्) उपवास को (कुर्यात् एव) करे ही ॥३९॥

भाषार्थः—बैठते, सोते या पुस्तादिक उठाते धरते समय जीवों की विराधना को बचाने के लिये प्रथम श्रावक जमीन वगैरह को कोमल वस्त्र आदिक से शुद्ध करके आसनादिक का उपयोग करे। और चारों पर्वों सम्बन्धी चार उपवासों को जरूर करे। यह अतिथि (मुनि) की तरह पर्वोपवास से सम्बन्ध नहीं छोड़ सकता ॥३९॥

अनेक भिक्षा नियमवान क्षुल्लक का कर्त्तव्य

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्, पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा, पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं, भणित्वा प्रार्थयेत वा।
मौनेन दर्शयित्वाङ्गं, लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥
निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद्, भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्, भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥

प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां, यावत्स्वोदरपूरणीम् !

लभेत प्रासु यत्राम्भ – स्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(सः) वह क्षुल्लक (समुपविष्टः) पद्मासनबद्ध बैठा हुआ (पाणिपात्रे) हाथरूपीपात्र में (अथ) अथवा (भाजने) वर्तन में (स्वयम्) अपने आप बिना किसी प्रेरणा के (अद्यात्) भोजन करे। तद्यथा—(पात्रपाणिः) हाथ में है भोजन का पात्र जिसके ऐसा [सः] वह अनेक भिक्षानियम वाला क्षुल्लक (श्रावकगृहम्) श्रावक के घर को (गत्वा) जाकर (तदङ्गणे) सर्वसाधारण के लिये रुकावटरहित उसके मकान के सामने (स्थित्वा) खड़ा होकर (धर्मलाभम्) धर्मलाभ हो ऐसे वचन को (भणित्वा) कह कर (वा) अथवा (मौनेन) मौन से (अङ्गम्) शरीरमात्र को (दर्शयित्वा) दिखा कर (भिक्षाम्) भिक्षा को (प्रार्थयेत) मांगे (लाभालाभे) भिक्षा के मिलने या नहीं मिलने पर (समः) हर्षविषाद रहित होता हुआ (अचिरात्) शीघ्र (निर्गत्य) निकल कर (अन्यद् गृहम्) दूसरे श्रावक के घर को (गच्छेत्) जावे तथा (भिक्षोद्युक्तः) भिक्षा लेने को उद्यत वह श्रावक (केनचित्) किसी श्रावक के द्वारा (भोजनाय) भोजन करने के लिये (अर्थितः) प्रेरित होता हुआ (मनाक्) थोड़ा (यत्) जो भोजन (भिक्षितम्) किसी श्रावक के घर से अपने वर्तन में पहले प्राप्त हुआ था उसे (भुक्त्वा) खा करके (अद्यात्) भोजन करे (अन्यथा) किसी श्रावक के द्वारा भोजन की प्रेरणा नहीं की जाने पर (स्वोदरपूरणीं यावत्) अपने उदर पूरण योग्य भिक्षा नहीं मिलने तक (भिक्षाम्) भिक्षा को (प्रार्थयेत) मांगे (च) तथा (यत्र) जिस श्रावक के घर (प्रासु) प्रासुक (अम्भः) जल को (लभेत) पावे (तत्र) वहां पर (ताम्) उस मिली हुई भिक्षा को (संशोध्य) भली प्रकार शोधकर (चरेत्) खावे ॥४०।४३॥

भाषार्थः—अनेकभिक्षानिमम वाला क्षुल्लक बैठकर पात्र में भोजन करे अथवा हाथ में श्रावक के द्वारा अर्पित भोजन करे।

यह क्षुल्लक अपने हाथ में पात्र लेकर भिक्षा को निकले, श्रावक के घर जावे, उसके मकान के सामने खड़ा होकर धर्म-लाभ कहे और भिक्षा की याचना करे। अथवा श्रावक के आंगन में मौन से खड़ा होकर केवल शरीर को दिखाकर भिक्षा मांगे। भोजन के मिलने अथवा नहीं मिलने पर किसी प्रकार का हर्षविषाद (राग-द्वेष) नहीं करे तथा आगे के घर जावे। यदि बीच में कोई श्रावक भोजन के लिये रोके (प्रेरणा करे) तो उसके घर पर ही भोजन करे परन्तु इतना ध्यान रखे कि पहले जो भिक्षा प्राप्त की है उसे शोध कर खाने के बाद ही उस श्रावक का भोजन करे। यदि बीच में कोई नहीं रोके तो शरीर के लिये जितनी भिक्षा आवश्यक है उसकी पूर्ति जब तक नहीं हो तब तक भिक्षा के लिये श्रावकों के यहाँ जावे। तथा जहाँ पर प्रासुक जल मिले वहाँ शोध कर भोजन करे ॥ ४० । ४३ ॥

क्षुल्लक को पात्रप्रक्षालनादि क्रियाओं के स्वयं करने का विधान

आकांक्षन्संयमं भिक्षा — पात्रप्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः, परथाऽसंयमो महान् ॥४४॥

अन्वयार्थौ—[सः] वह क्षुल्लक (संयमम्) संयम को (आकांक्षन्) इच्छा करता हुआ (भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु) अपने भोजन के पात्र को धोने आदि के कार्य में (अदर्पः) अपने तप और विद्या आदि का गर्व नहीं करता हुआ (स्वयम्) स्वयं ही (यतेत) यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे (परथा) नहीं तो (महान्) बड़ा भारी (असंयमः) असंयम [भवेत्] होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः—संयम की रक्षा के लिये भिक्षापात्र का मांजना और आसनादिक की स्वच्छता आदि क्षुल्लक स्वयं करे, शिष्यादिक से नहीं करावे। यदि वह इनमें स्वयं प्रयत्न नहीं करेगा तो

प्रमादजन्य महान् असंयम होगा। क्योंकि प्राणिरक्षा जैसे स्वयं की जा सकती है वैसी शिष्यादिक से सम्भव नहीं होती ॥ ४४ ॥

क्षुल्लक के प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान

ततो गत्वा गुरूपान्तं, प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृह्णीयाद् विधिवत्सर्वं, गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥४५॥

अन्वयार्थौ—(ततः) आहार के बाद (गुरूपान्तम्) गुरु के पास (गत्वा) जाकर (विधिवत्) विधिपूर्वक (चतुर्विधम्) चार प्रकार के (प्रत्याख्यानम्) आहार के त्याग को (गृह्णीयात्) ग्रहण करे। तथा (गुरोः) अपने गुरु के (पुरः) समक्ष (सर्वम्) आहार के लिये जाने के समय से लेकर आने तक की सम्पूर्ण क्रियाओं और तत्सम्बन्धी भूलों की (आलोचयेत्) आलोचना करे ॥ ४५ ॥

भावार्थः—क्षुल्लक श्रावक आहार के अन्तर गुरु के पास जाकर दूसरे दिन आहार को निकलने तक के लिये विधिपूर्वक चतुर्विध आहार का परित्याग करे। तथा आहारगमन से लेकर वापिस आने तक जो कुछ प्रमाद हुआ हो गुरु के सामने उसकी आलोचना करे। अर्थात् जैसे ऐलक वा मुनि आहार से वापिस आकर प्रतिक्रमण करते हैं उसी प्रकार यह भी प्रतिक्रमण करे।

एकभिक्ष क्षुल्लक का भोजनसम्बन्धी नियम

यस्त्वेकभिक्षानियमो, गत्वाद्यादनुमुन्यसौ ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्या—दुपवासमावश्यकम् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—(तु) तथा (यः) जो क्षुल्लक (एकभिक्षानियमः) एक ही घर में भिक्षा लेने का नियम वाला [स्यात्] होता है (असौ) वह (अनुमुनि) मुनिराज के भोजन के पश्चात् (गत्वा) श्रावक के घर जाकर (अद्यात्) भोजन करे। (भुक्त्यभावे) भोजन की प्राप्ति नहीं होने पर (आवश्यकम्) जरूरी (उपवासम्) उपवास को (कुर्यात्) करे।

भाषार्थः--जिस क्षुल्लक के एक ही घर भोजन करने का नियम है वह मुनियों की चर्या हो जाने पर आहार को निकले और यदि एक घर में भिक्षा नहीं मिले तो उपवास करे अर्थात् दूसरे घर नहीं जावे ॥ ४६ ॥

विशेषार्थः--जहां चर्या पटती है वहां ही आहार लेने का जिसके नियम है वह एक घर की भिक्षानियम वाला क्षुल्लक कहलाता है। ऐसे नियम वाले क्षुल्लक को यदि उस प्रथम घर में अन्तराय आ जावे अथवा कोई पड़गावे नहीं तो उस दिन वह उपवास करे। वह अनेक घर की भिक्षा के नियम वाले क्षुल्लक के समान अनेक घर जाकर भिक्षा मांग कर भोजन नहीं कर सकता।

एकभिक्ष क्षुल्लक का कर्त्तव्य

वसेन्मुनिवने नित्यं, शुश्रूषेत गुरूँश्चरेत्।
तपो द्विधापि दशधा, वैयावृत्त्यं विशेषतः ॥४७॥

अन्वयार्थौ--[प्रथमः] क्षुल्लक (नित्यम्) सदा (मुनिवने) मुनियों के साथ उनके निवासभूत वन में (वसेत्) निवास करे। तथा (गुरून्) गुरुओं को (शुश्रूषेत) सेवे (द्विधा) अन्तरङ्ग वा बहिरङ्ग दोनों प्रकार के (अपि) भी (तपः) तप को (चरेत्) आचरण करे। तथा (विशेषतः) खास कर (दशधा) दशप्रकार (वैय्यावृत्त्यम्) वैयावृत्त्य को (आचरेत्) आचरण करे ॥ ४७ ॥

भाषार्थः क्षुल्लक मुनिवन में ही रहे, गुरु की शुश्रूषा करे, अन्तरङ्ग वा बहिरङ्ग तप तपे तथा वैयावृत्त्य को विशेषतया करे।

ग्यारहवींप्रतिमाधारी द्वितीय (ऐलक) का लक्षण

तद्वद् द्वितीयः किन्वार्य—संज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते, यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८॥

अन्वयार्थौ—(द्वितीयः) दूसरा ऐलक [अपि] भी (तद्वत्) क्षुल्लक के समान [आचरेत्] आचरण करे (किन्तु) परन्तु (असौ) यह ऐलक (कचान्) अपने शिर, डाढ़ी वा मूछों के बालों को (लुञ्चति) लोंच करता है (कौपीनमात्रयुक्) लंगोटी मात्र धारक [सन्] होता हुआ (यतिवत्) मुनि के समान (प्रतिलेखनम्) पीछी आदि संयमोपकरण को (धत्ते) रखता है ।। ४८ ।।

भाषार्थः—द्वितीय (ऐलक) की समस्त क्रियाएँ पूर्वोक्त क्षुल्लक के ही समान हैं। केवल इतनी ही विशेषता है कि इसको 'आर्य' कहते हैं, यह केशलोंच करता है, केवल लँगोटी ही धारण करता है, खण्डवस्त्र नहीं और मुनियों के समान पीछी तथा कमण्डलु आदि संयम के उपकरण रखता है ।। ४८ ।।

ऐलक के भोजन की विधि और श्रावकों के विनय की रीति

स्वपाणिपात्र एवात्ति, संशोध्यान्येन योजितम् ।
इच्छाकारं समाचारं, मिथः सर्वे तु कुर्वते ।।४६।।

अन्वयार्थौ—[एषः] यह ऐलक (अन्येन) किसी श्रावक के द्वारा (योजितम्) दिये गये भोजन को (संशोध्य) भलीप्रकार शोध कर (स्वपाणिपात्रे) अपने हाथरूपी पात्र में (एव) ही (अत्ति) खाता है । तथा (सर्वे) सभी प्रतिमाओं के धारक श्रावक (मिथः) परस्पर (इच्छाकारम्) इच्छामि अर्थात् मैं मोक्षाभिलाषी हूँ ऐसे शब्दोच्चारणरूप (समाचारम्) व्यवहारविनय को (कुर्वते) करते हैं ।।४६।।

भाषार्थः—ऐलक मुनियों के समान तथा हाथरूपी पात्र में श्रावकों के द्वारा अर्पित भोजन को शोध करके ग्रहण करते हैं। प्रथम क्षुल्लक की अपेक्षा ऐलक में यही विशेषता है । तथा सामान्यरीति से सभी प्रतिमाधारी श्रावक परस्पर एक दूसरे के मिलने पर विनय के हेतु इच्छाकार या इच्छामि बोलते हैं ।। ४६ ।।

श्रावकों के लिये कतिपय धार्मिक कार्यों का निषेध

श्रावको वीरचर्याहः—प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्त-रहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०॥

अन्वयार्थौ—(श्रावकः) श्रावक (वीरचर्याहःप्रतिमातापनादिषु) वीरचर्या अर्थात् भ्रामरीवृत्ति से भोजन करना, दिन में प्रतिमायोगधारण करना और आतापन आदिक योग धारण करना आदि मुनियों के करने योग्य कार्यों के विषय में (अपि च) तथा (सिद्धान्तरहस्याध्ययने) सिद्धान्तशास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रों के अध्ययन करने के विषय में (अधिकारी) अधिकारी (न स्यात्) नहीं है ॥५०॥

भावार्थः—श्रावक भ्रामरीवृत्तिभोजन, दिवाप्रतिमायोग, आतापनयोग, सिद्धान्तशास्त्राध्ययन और प्रायश्चित्तशास्त्राध्ययन का अधिकारी नहीं है ॥ ५० ॥

साधारण गृहस्थ के चार कर्त्तव्य

दानशीलोपवासार्चा—भेदादपि चतुर्विधः ।
स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यः भवोच्छित्यै यथायथम् ॥५१॥

अन्वयार्थौ—(श्रावकैः) श्रावकों के द्वारा (भवोच्छित्यै) संसारपरिभ्रमण का विनाश करने के लिये (दानशीलोपवासार्चाभेदात्) दान देना, शील पालना, उपवास करना तथा जिनपूजन करना इस प्रकार से (चतुर्विधः) चार प्रकार का (स्वधर्मः) अपना धर्म (यथायथम्) अपनी अपनी प्रतिमा सम्बन्धी आचरण के अनुसार यथायोग्य (कृत्यः) किया जाना चाहिये ॥५१॥

भावार्थः—दान देना, शील पालन, चारों पर्वों में उपवास करना और जिनपूजन करना यह भी श्रावक का चार प्रकार का धर्म है। संसार का उच्छेद करने के लिये अपनी प्रतिमाओं में

किसी प्रकार का विरोध नहीं लाते हुये अपनी शक्ति के अनुसार श्रावकों को इनका भी पालन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

व्रत की रक्षा रखने का उपदेश

प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं, गुरुसाक्षिश्रितं व्रतम् ।
प्राणान्तस्तत्क्षणे दुखं, व्रतभङ्गो भवे भवे ॥५२॥

अन्वयार्थौ—(गुरुसाक्षिश्रितम्) पञ्च परमेष्ठी, गुरु या दीक्षागुरु की साक्षी से ग्रहण किया हुआ (व्रतम्) व्रत या प्रतिज्ञा (प्राणान्ते) प्राणनाश हो जाने पर (अपि) भी (न भङ्क्तव्यम्) भङ्ग नहीं करना चाहिये [यतः] क्योंकि (प्राणान्तः) प्राणनाश (तत्क्षणे) केवल मरणसमय [एव] ही (दुःखम्) दुःखकर [भवेत्] होता है। परन्तु (व्रतभङ्गः) व्रतभङ्ग (भवे भवे) भव भव में (दुःखकरः) दुःखदायक (भवेत्) होता है ॥५२॥

भाषार्थः - बुद्धिपूर्वक व्रतों का भङ्ग करने से सम्यक्त्व की भी विराधना होती है यह आगमोक्त सिद्धान्त है। इसलिये गुरु, देवस्थान, वास्तु या पांचों की साक्षी से गृहीत व्रत को प्राण-घातक परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी भंग नहीं करना चाहिये। क्योंकि मरण एक ही वार दुःखदायक होता है किन्तु व्रतभंग भव भव में दुःखदायक होता है ॥ ५२ ॥

सन्तोष की प्रशंसा

शीलवान्महतां मान्यः, जगतामेकमण्डनम् ।
सः सिद्धः सर्वशीलेषु, यः सन्तोषमधिष्ठितः ॥५३॥

अन्वयार्थौ—(शीलवान्) सदाचारी (जगताम्) संसार का (एकमण्डनम्) अद्वितीय भूषण [च] तथा (महताम्) इन्द्रादिकों के [अपि] भी (मान्यः) माननीय (यः) जो मुनि या श्रावक व्यक्ति (सन्तोषम्) विषयाभिलाषा के त्याग या संतोष वृत्ति को (अधिष्ठितः) प्राप्त हुआ (सः) वह (सर्वशीलेषु) सर्व शीलों में (सिद्धः) सिद्ध हो चुका।

भावार्थः—जो सदाचारी मुनि या श्रावक इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होकर सन्तोष धारण करता है वह सकल सदाचारों में सिद्ध, इन्द्रादिक द्वारा वन्दनीय और संसार का अनुपम भूषण है ॥ ५३ ॥

सन्तोष से लाभ

तत्र न्यश्चति नो विवेकतपनो, नाश्चत्यविद्यातमी,
नाप्नोति स्खलितं कृपामृतसरि-न्नोदेति दैन्यज्वरः।
विस्निह्यन्ति न सम्पदो न दृशम–प्यासूत्रयन्त्यापदः,
सेव्यं साधुमनस्विनां भजति यः, सन्तोषमंहोमुषम् ॥५४॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो मनुष्य (साधुमनस्विनाम्) साधुओं और स्वाभिमानियों के (सेव्यम्) सेवनीय (अंहोमुषम्) पापनाशक (सन्तोषम्) सन्तोष को (भजति) सेवन करता (तत्र) उस व्यक्ति में (विवेकतपनः) विवेकरूपी सूर्य (नो न्यश्चति) अस्त नहीं होता (अविद्यातमी) अज्ञानान्धकाररूपी रात्रि (न अश्चति) नहीं फैलती (कृपामृतसरित्) दयारूपी अमृत की नदी (स्खलितम्) रुकावट को (न आप्नोति) प्राप्त नहीं होती (दैन्यज्वरः) दीनतारूपी ज्वर (न उदेति) उत्पन्न नहीं होता (सम्पदः) सम्पत्तियां (न विस्निह्यन्ति) पृथक् नहीं होतीं [च] तथा (आपदः) आपत्तियां (दृशम्) अपनी दृष्टि को (अपि) भी (न आसूत्रयन्ति) नहीं डालतीं ॥५४॥

भावार्थः—सन्तोष के बिना मनुष्य विवेक से भ्रष्ट हो जाता है। उसके चित्त में सदा अविद्यारूपी अन्धकार रात्रि विद्यमान रहती है। वह निर्दय और दीन हो जाता है। ऐसे मनुष्य की सम्पत्तियां नष्ट हो जाती हैं और आपत्तियाँ पिंड नहीं छोड़तीं। किन्तु जो सन्तोष धारण करता है उसके ये अनर्थ नहीं होते ॥ ५४ ॥

श्रावक को स्वाध्याय करने और अनुप्रेक्षा भाने का उपदेश

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्या – दनुप्रेक्षाश्च भावयेत् ।
यस्तु मन्दायते तत्र, स्वकार्ये सः प्रमाद्यति ॥५५॥

अन्वयार्थौ—[श्रावकः] श्रावक (उत्तमम्) आत्महितकारक शास्त्रों के उत्तमरीति से (स्वाध्यायम्) स्वाध्याय को (कुर्यात्) करे (च) और (अनुप्रेक्षाः) बारह भावनाओं या षोडशकारणभावनाओं को (भावयेत्) भावे (तु) परन्तु (यः) जो श्रावक (तत्र) इन कार्यों में (मन्दायते) आलस्य करता है (सः) वह (स्वकार्ये) आत्म-हितकारक कार्यों में (प्रमाद्यति) प्रमाद करता है ॥५५॥

भाषार्थः– अपनी शक्ति नहीं छिपा कर उत्तम रीति से आध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये तथा द्वादश भावनाओं का सदा चिन्तवन करना चाहिये क्योंकि स्वाध्याय और अनुप्रेक्षा के निमित्त से आत्मा में उत्कर्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये जो स्वाध्याय और भावनाओं में आलस्य करते हैं वे आत्महित में प्रमादी होते हैं ॥ ५५ ॥

शत्रु और मित्र का निर्णय

धर्मान्नान्यः सुहृत्पापा–न्नान्यः शत्रुः शरीरिणाम् ।
इति नित्यं स्मरन्न स्या–न्नरः संक्लेशगोचरः ॥५६॥

अन्वयार्थौ—(शरीरिणाम्) प्राणियों का (धर्मात्) धर्म से (अन्यः) भिन्न (सुहृत्) मित्र (नास्ति) नहीं है और पापात्) पाप से (अन्यः) भिन्न (शत्रुः) शत्रु (नास्ति) नहीं है (इति) इस प्रकार (नित्यम्) सदा (स्मरन्) स्मरण करने वाला (नरः) मनुष्य (संक्लेशगोचरः) दुःखों का पात्र (न स्यात्) नहीं होता है ॥५६॥

भाषार्थः—वास्तव में प्राणियों का उपकारी धर्म ही है और अधर्म अपकारी है। इस तत्त्व को जो हमेशा स्मरण करता

है वह व्यक्ति संक्लेश के कारणभूत मोह और रागद्वेष में नहीं फँसता ॥५६॥

श्रावक के सल्लेखनाधारण की भावना

सल्लेखनां करिष्ये ऽहं, विधिना मारणान्तिकीम् ।
अवश्यमित्यदः शीलं, सन्निदध्यात्सदा हृदि ॥५७॥

अन्वयार्थौ—(अहम्) मैं (विधिना) शास्त्रोक्त विधिपूर्वक (मारणान्तिकीम्) मरण समय होने वाली (सल्लेखनाम्) सल्लेखना को (अवश्यम्) अवश्य (करिष्ये) करूँगा (इति) इस प्रकार (अदः) इस (शीलम्) सल्लेखनारूप व्रत को (हृदि) अपने हृदय में (सदा) हमेशा [च] तथा (अवश्यम्) अवश्य [सन्निदध्यात्] धारण करे ॥५७॥

भाषार्थः—मैं मरणसमय होने वाली सल्लेखना को विधिपूर्वक अवश्य करूँगा श्रावक को यह भाव अपने चित्त में सदैव रखना चाहिये ॥५७॥

विशेषार्थः—सती=सम्यक्प्रकारेण, लेखना=कायकषायकृशीकरणं सल्लेखना। काय और कषाय के भलीप्रकार कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। मरणसमय में अर्थात् तद्भवमरण के अन्त में होने वाली सल्लेखना को मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं। मरण दो प्रकार का है। प्रतिक्षणमरण और तद्भवमरण। सल्लेखना में जो मरण होता है, वह तद्भवमरण माना जाता है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों की तरह सल्लेखना को भी शील माना है।

समाधिमरण से लाभ

सहगामि कृतं तेन, धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन, भवविध्वंसि साधितम् ॥५८॥

अन्वयार्थौ—(येन) जिसने (भवविध्वंसि) संसारपरिभ्रमण का नाशक (समाधिमरणम्) समाधिमरण (साधितम्) साध लिया (तेन)

उसने (आत्मनः) अपने (धर्मसर्वस्वम्) धर्म के सर्वस्व रत्नत्रय को (सहगामि) परभव के लिये सहचर (कृतम्) बनाया ॥५८॥

भाषार्थः—समाधिमरण का बड़ा माहात्म्य है। जिसका आत्मा मरते समय रत्नत्रय की आराधना में तत्पर रहता है उसके द्वारा ही समाधिमरण सधता है। जिन्होंने यह समाधिमरण साध लिया उन्होंने अपना सम्पूर्ण धर्म अपने साथ कर लिया ॥ ५८ ॥

श्रावक को पदवी और शक्ति के अनुसार मुनिधर्म सेवने का उपदेश

यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां, वृत्तं तदपि सेव्यताम् ।
सम्यङ् निरूप्य पदवीं, शक्तिं च स्वामुपासकैः ॥५९॥

अन्वयार्थौ—(प्राक्) पहले अनागारधर्मामृत में (मुनीन्द्राणाम्) मुनियों का (यत्) जो (वृत्तम्) चारित्र (उक्तम्) कहा गया है (तत्) वह चारित्र (अपि) भी (स्वाम्) अपनी (शक्तिम्) शक्ति को (च) और (पदवीम्) पदस्थ को (सम्यक्) भलीभाँति (निरूप्य) समझ कर (उपासकैः) श्रावकों के द्वारा (सेव्यताम्) सेवन किया जाय ॥५९॥

भाषार्थः—इस ग्रन्थ के प्रथमभाग अनागारधर्मामृत में जो महामुनियों की चर्या का वर्णन किया गया है उसका भी अनुष्ठान श्रावकों को अपनी पदवी और शक्ति का लक्ष्य रखते हुये करना चाहिये ॥५९॥

विशेषार्थः—पदवी = संयम की भूमिका। शक्ती = वीर्य अर्थात् परीषह और उपसर्गों को सहते हुये अपने मार्ग से विचलित नहीं होना ॥५९॥

श्रावक को मुनिवृत्ति में उत्साहित होने का उपदेश

इत्यापवादिकीं चित्रां, स्वभ्यस्यन् विरतिं सुधीः ।
कालादिलब्धौ क्रमतां, नवधौत्सर्गिकीं प्रति ॥६०॥

अन्वयार्थौ—(इति) इस प्रकार (चित्राम्) अनेक भेद वाली (आपवादिकीम्) अपवादमार्गस्वरूप (विरतिम्) श्रावकीय संयम को (स्वभ्यस्यन्) अभ्यास करने वाला (सुधीः) बुधिमान् गृहस्थ (कालादिलब्धौ) योग्य समय आदि साधन सामग्री के प्राप्त होने पर (नवधा) मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना रूप नव प्रकार से (औत्सर्गिकीं प्रति) महाव्रतरूप संयम के प्रति (क्रमताम्) उत्साहित होवे ॥६०॥

भाषार्थः—इस प्रकार नानाप्रकार के प्रतिमारूप व्रतों का अभ्यास करके देश, काल, बल और वीर्य आदि सहायक साधन सामग्री के मिलने पर गृहस्थ को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से मुनिधर्म धारण करने के लिये अपना उत्साह बढ़ाना चाहिये ॥६०॥

विशेषार्थः—उत्सर्गमार्ग मुनिधर्म है। इसीलिये मुमुक्षु के लिये आचार्य पहले मुनिधर्म का उपदेश देते हैं। किन्तु जो मुनिधर्म के पालन में असमर्थ हैं उन्हें मुनिधर्म पालन की योग्यता के लिये गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाता है। इसलिये गृहस्थधर्म को अपवादमार्ग कहते हैं। उत्=उत्कृष्ट। सर्ग=सर्वपरिग्रह का त्याग। इस की विधि को औत्सर्गिकी विधि अर्थात् मुनिधर्म कहते हैं। तथा मुनियों के लिये परिग्रह अपवाद का हेतु होने से परिग्रह अपवाद है। अपवाद सहित विधि को अपवादिकी विधि अथात् गृहस्थ धर्म कहते हैं ॥ ६० ॥

साधकत्व का स्वामी

इत्येकादशधाऽऽम्नातो, नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना।
सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य, साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थौ—(नैष्ठिकः) नैष्ठिक (श्रावकः) श्रावक (इति) पूर्वोक्त व्याख्यान के अनुसार (एकादशधा) ग्यारह प्रतिमा वाला (आम्नातः)

आचार्य परम्परा से बतलाया गया है (अधुना) अब (सूत्रानुसारतः) जैनागम के अनुसार (अन्त्यस्य) एकादशम प्रतिमाधारी के (साधकत्वम्) साधक पना (प्रचक्ष्यते) कहा जाता है ॥६१॥

भाषार्थः—इस प्रकार आगम परम्परा के अनुसार ग्यारह प्रतिमारूप नैष्ठिक श्रावक का वर्णन करके अब अष्टमाध्याय में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के साधकत्व बतलाया जावेगा ॥ ६१ ॥

इत्याशाधरविरचिते सागारधर्मामृते
सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

आठवां अध्याय

साधक का लक्षण

देहाहारेहितत्यागाद्, ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम् ।
जीवितान्ते सुसम्प्रीतः, साधयत्येष साधकः ॥१॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो श्रावक (सुसम्प्रीतः) आनन्दित [सन्] होता हुआ (जीवितान्ते) जीवन के अन्त में अर्थात् मृत्युसमय (देहाहारेहितत्यागात्) शरीर, भोजन और मन वचन काय के व्यापार के त्याग से (ध्यानशुद्ध्या) पवित्रध्यान के द्वारा (आत्मशोधनम्) आत्मा की शुद्धि को (साधयति) साधन करता है (एषः) वह (साधकः) साधक [प्रोच्यते] कहा जाता है ॥ १ ॥

भाषार्थः—जो उद्दिष्टविरत श्रावक आत्मध्यानजनित आनंद से प्रसन्न होकर शरीर से ममत्व, चतुर्विध आहार और त्रियोग के व्यापार का त्याग करके निर्विकल्प समाधि के द्वारा अपने आत्मा की शुद्धि (मोह, राग और द्वेष के त्यागरूप आत्मपरिणति) की साधना करता है वह साधक कहलाता है ॥१॥

श्रावक रह कर ही मोक्षमार्ग-साधन का पात्र

सामग्रीविधुरस्यैव, श्रावकस्यायमिष्यते ।
विधिः सत्यां तु सामग्र्यां, श्रेयसी जिनरूपता ॥२॥

अन्वयार्थौ—(अयम्) यह वक्ष्यमाण (विधिः) सल्लेखना की विधि (सामग्रीविधुरस्य) जिनलिङ्गग्रहण करने के अयोग्य (श्रावकस्य) श्रावक के (एव) ही (इष्यते) करने योग्य है (तु) किन्तु (सामग्र्याम्) जिनलिङ्गग्रहण करने योग्य सामग्री के (सत्याम्) विद्यमान रहने पर (जिनरूपता) मुनिदीक्षा लेना (एव) ही (श्रेयसी) श्रेष्ठ [विद्यते] है।

भाषार्थः—दोनों अण्डकोष और लिङ्ग इन तीनों से सम्बन्ध रखने वाले दोषों से जो श्रावक युक्त है वह जिनदीक्षा लेने का अधिकारी नहीं। ऐसे श्रावक के लिये ही वक्ष्यमाण सल्लेखना का वर्णन है किन्तु जिसमें जिनरूपग्रहण की योग्यता है उसे तो जिनरूप ही धारण करना चाहिये ॥ २ ॥

जिनरूप के स्वीकार का कारण

किञ्चित्कारणमासाद्य, विरक्ताः कामभोगतः ।
त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीराः, श्रयन्ति जिनरूपताम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—(धीराः) परीषह और उपसर्ग के सहन में समर्थ श्रावक (किञ्चित्) किसी (कारणम्) हेतु को (आसाद्य) प्राप्त कर (कामभोगतः) काम और भोग से (विरक्ताः) विरक्त होते हुये (सर्वोपधिम्) समस्त परिग्रह को (त्यक्त्वा) छोड़ कर (जिनरूपताम्) जिनलिङ्ग को (श्रयन्ति) धारण करते हैं ॥३॥

भाषार्थः—तत्त्वज्ञान में आसक्ति अथवा शत्रुपराजय आदि किसी कारण से काम और भोगों से विरक्त श्रावक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सभी परिग्रहों का त्याग करके जिनरूपता का आश्रय (मुनिदीक्षा) लेते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थः—स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषयानुभव को भोग तथा शेष तीन इन्द्रियों के विषयानुभव को काम करते हैं। तत्त्वज्ञानानुराग आदि वैराग्य के अन्तरङ्ग कारण हैं और शत्रुपराजय आदि बहिरङ्ग कारण हैं ॥ ३ ॥

जिनलिङ्ग के स्वीकार का माहात्म्य

अनादिमिथ्यादृगपि, श्रित्वार्हद्रूपतां पुमान् ।
साम्यं प्रपन्नः स्वं ध्यायन्, मुच्यतेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥४॥

अन्वयार्थौ--(अनादिमिथ्यादृक्) अनादिमिथ्यादृष्टि (अपि) भी (पुमान्) पुरुष (अर्हद्रूपताम्) जिनलिङ्ग को (श्रित्वा) धारण करके (स्वम्) अपने आत्मा को (ध्यायन्) ध्यान करता हुआ (अन्तर्मुहूर्ततः) अन्तमुहूर्त में (मुच्यते) मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—अनादि मिथ्यादृष्टि भी व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा धारण कर अपनी आत्मा का ध्यान कर अन्तमुहूर्त में मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थः—इस श्लोक में प्रदत्त 'पुमान्' पद से यह सूचित होता है कि द्रव्य से पुरुष ही मुनिदीक्षा का अधिकारी है। तदुक्तम्—

आराध्याचरणमनुपम—मनादिमिथ्यादृशोऽपि यत्क्षणतः ।
दृष्टा विमुक्तिभाज--स्ततो ऽपि चारित्रमेवेष्टम् ॥

शरीर के नाश और शोच करने का निषेध

न धर्मसाधनमिति, स्था स्नु नाश्यं वपु र्बुधैः ।
न च केनापि रक्ष्य—मिति शोच्यं विनश्वरम् ॥५॥

अन्वयार्थौ—(स्थास्नु) स्थायी (वपुः) शरीर (धर्मसाधनम्) रत्नत्रयस्वरूप धर्म की सिद्धि का उपाय [विद्यते] है (इति) इस कारण (बुधैः) तत्त्वज्ञ पुरुषों के द्वारा (न नाश्यम्) नष्ट नहीं किया जाना चाहिये (च) तथा (विनश्वरम्) मरणासन्न (वपुः) शरीर (केन) देवेन्द्र आदि किसी के द्वारा (अपि) भी (न रक्ष्यम्) नहीं बचाया जा सकता [इति] इसकार (न शोच्यम्) शोच भी नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—शरीर रत्नत्रय की सिद्धि का उपाय है, इसलिये धर्म का साधन है। अतएव यदि वह स्थिर हो तो विवेकी जनों को प्रयत्न कर उसका नाश नहीं करना चाहिये। और यदि वह पातोन्मुख हो तो उसे योगीन्द्र, देवेन्द्र तथा दानवेन्द्र आदि कोई भी नहीं बचा सकता, इसलिये शोच नहीं करना चाहिये।

शरीर के पोषण, उपचार और त्याग का समय

कायः स्वस्थो ऽनुवर्त्यः स्यात्, प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यँस् – त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥६॥

अन्वयार्थौ—(सद्भिः) विवेकियों के द्वारा (स्वस्थः) स्वस्थ (कायः) शरीर (अनुवर्त्यः) पोषण करने योग्य है (रोगितः) रोगी शरीर (प्रतीकार्यः) उपचार के योग्य है (च) और (उपकारम्) उपकार को (विपर्यस्यन्) विफल करने वाला शरीर (खलः यथा) दुष्ट पुरुष के समान (त्याज्यः) त्यागने योग्य है ॥६॥

भाषार्थः—निरोग शरीर की रक्षा के लिये नियमित रूप से योग्य आहार और विहार करना चाहिये। यदि रोग की उत्पत्ति हो जावे तो उसकी निवृत्ति के लिये औषधोपचार भी करना चाहिये। परन्तु योग्य आहार विहार और औषधोपचार करते हुये भी यदि शरीर पर उसका असर नहीं हो; तथा व्याधि ही बढ़े, ऐसी हालत में शरीर का दुष्ट के समान त्याग कर देना उचित है ॥ ६ ॥

शरीर के हेतु धर्म के घात का निषेध

नावश्यं नाशिने हिंस्यो, धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुन र्लभ्यो, धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—(अवश्यम्) निश्चय से (नाशिने) नष्ट होने वाले (देहाय) शरीर के लिये (कामदः) इच्छित अर्थ का दाता (धर्मः) धर्म (न हिंस्यः) नष्ट करने योग्य नहीं [यतः] क्योंकि (नष्टः) नष्ट हुआ (देहः) शरीर (पुनः) फिर (लभ्यः) मिल सकता है (तु) किन्तु (धर्मः) धर्म (अत्यन्तदुर्लभः) अतिदुर्लभ विद्यते है ॥७॥

भाषार्थः—शरीर नियम से नष्ट होता है उसके लिये सर्व प्रकार के मनोरथ को पूर्ण करने वाले समाधिमरणरूपी धर्म का

घात नहीं करना चाहिये । क्योंकि शरीर तो पुनः मिल सकता है परन्तु समाधिमरण की प्राप्ति सरल नहीं ॥ ७ ॥

समाधिमरण में आत्मघात की आशंका का खण्डन

न चात्मघातोऽस्ति वृष – क्षतौ वपुरुपेक्षितुः ।
कषायावेशतः प्राणान्. विषाद्यैर्हिंसतः स हि ॥८॥

अन्वयार्थौ—(वृषक्षतौ) गृहीत व्रत के विनाश का कारण उपस्थित होने पर (वपुः) शरीर की (उपेक्षितुः) उपेक्षा करने वाले के (आत्मघातः) आत्मघात का प्रसङ्ग (नास्ति) नहीं होता (हि) क्योंकि (सः) वह आत्मघात (कषायावेशतः) कषाय के आवेश से (विषाद्यैः) विष आदिक से (प्राणान्) प्राणों को (हिंसतः) नष्ट करने वाले व्यक्ति के [एव] ही [स्यात्] होता है ॥८॥

भाषार्थः—गृहीतव्रत के विनाश का कारण उपस्थित होने पर भोजनत्याग आदि के द्वारा यथाविधि समाधिमरण करना आत्मघात नहीं कहलाता क्योंकि कषाय के आवेश से विषभक्षण शस्त्राघात, श्वासनिरोध, कूपपात और अग्निप्रवेश आदि के द्वारा जो प्राणों का नाश किया जाता है उसे ही आत्मघात कहते हैं ।

यथाकालमरण वा उपसर्गमरण के निर्णीत होने पर उपवास द्वारा समाधिमरण में गृहीत व्रतों की सफलता

कालेन वोपसर्गेण, निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखम् ।
कृत्वा यथाविधि प्रायं, तास्ताः सफलयेत् क्रियाः ॥६॥

अन्वयार्थौ—(कालेन) आयुपूर्ण होने के काल से (वा) अथवा (उपसर्गेण) उपसर्ग से (आयुः) आयु को (क्षयोन्मुखम्) क्षय के सन्मुख (निश्चित्य) निश्चय करके (यथाविधि) विधिपूर्वक (प्रायम्) सन्यासयुक्त उपवास को (कृत्वा) करके (ताः ताः) नैष्ठिक अवस्था में गृहीत दर्शनिक आदि प्रतिमासम्बन्धी नित्य और नैमित्तिक सम्पूर्ण क्रियाओं को (सफलयेत्) सफल करे ॥६॥

भाषार्थः—स्वाभाविक मरण द्वारा अथवा दुर्निवार रोग और शत्रु के आघात आदि उपसर्ग द्वारा मरण का निश्चय होने पर आगमविधि के अनुसार सन्यासयुक्त उपवास धारण करके पूर्वाश्रम में गृहीत सम्पूर्ण व्रतों को सफल करे ॥ ९ ॥

सल्लेखना से मोक्ष की प्राप्ति

देहादिवैकृतैः सम्यङ्, निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्न—मते दूरे न तत्पदम् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—(देहादिवैकृतैः) देहादिक के विकारों द्वारा (तु) और (सम्यङ् निमित्तैः) ज्योतिर्विद्या और शकुन आदि निमित्तों द्वारा (मृत्यौ) मृत्यु के (सुनिश्चिते) निश्चित होने पर (आराधनामग्नमतेः) निश्चय आराधना में आसक्त है मन जिसका ऐसे समाधिमरण करने वाले के (तत्पदम्) वह सिद्ध पद (दूरे) दूर (न) नहीं [विद्यते] है ॥१०॥

भाषार्थः—शीघ्रमरणसूचक देहविकार या वाणीविकार आदि से और ज्योतिषशास्त्र, कर्णपिशाचिनीविद्या तथा शकुन आदि निमित्तों द्वारा मरण का निश्चय होने पर जो अपनी सल्लेखना की आराधना में मग्न हो जाते हैं उनके निर्वाण दूर नहीं है ॥ १० ॥

उपसर्गमरण के समय उपवासपूर्वक सन्यासविधि का उपदेश

भृशापवर्तकवशात्, कदलीघातवत्सकृत् ।
विरमत्यायुषि प्राय-मविचारं समाचरेत् ॥११॥

अन्वयार्थौ—[मुमुक्षुः] मोक्षाभिलाषी (भृशापवर्तकवशात्) अगाढ़ अपमृत्यु के कारण (कदलीघातवत्) कदलीघात के समान (सकृत्) एकदम (आयुषि) आयु के (विरमति) नाश की स्थिति उपस्थित होने पर (अविचारम्) समाधि के योग्य स्थान आदि के हेतु

दौड़ धूप किये बिना (प्रायम्) भक्तप्रत्याख्यान सार्वकालिक सन्यास को (समाचरेत्) धारण करे ॥११॥

भाषार्थः—जैसे शस्त्र द्वारा छिन्न केले का वृक्ष एकदम गिर जाता है उसी प्रकार अगाढ़ अपमृत्यु के कारण एकदम आयु-नाश की सम्भावना उपस्थित होने पर समाधि के योग्य स्थान आदि सामग्री के हेतु दौड़धूप किये बिना भक्तप्रत्याख्यान (सार्वकालिकसन्यास धारण) करे और शुद्ध स्वात्मध्यान में लीन होवे ॥ ११ ॥

आयु पूर्ण होनेपर देह का नाश होते समय सल्लेखना की आवश्यकता

क्रमेण पक्त्वा फलवत्, स्वयमेव पतिष्यति।
देहे प्रीत्या महासत्त्वः. कुर्यात्सल्लेखनाविधिम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(क्रमेण) क्रम से (पक्त्वा) पक कर (फलवत्) फल के समान (स्वयम्) अपने आप (एव) ही (देहे) शरीर के (पतिष्यति) पतन होने पर (महासत्त्वः) अनिवार्यधैर्यधारक श्रावक (प्रीत्या) प्रीति से (सल्लेखनाविधिम्) सल्लेखना की विधि को (कुर्यात्) करे ॥१२॥

भाषार्थः जैसे पकने पर फल स्वयं डाली से जमीन पर गिर जाता है उसी प्रकार आयु के निषेकों का क्षय होने पर शरीर भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसलिये ऐसी मृत्यु के समय प्रीति पूर्वक सल्लेखना अवश्य धारण करना चाहिये ॥ १२ ॥

सल्लेखना के समय शरीर में निर्ममत्व का विधान

जन्ममृत्युजरातङ्काः, कायस्यैव न जातु मे।
न च कोऽपि भवत्येष, ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्ममः ॥१३॥

प्रतिदिवसं विजहद्बल—मुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणां निगदति, चरमचरित्रोदयं समयम् ॥

अन्वयार्थौ—(जन्ममृत्युजरातङ्काः) जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग ये सब (कायस्य) शरीर के (एव) ही [जायन्ते] होते हैं (मे) आत्मा के (जातु) कदाचित् (न) नहीं (च) और (एषः) यह शरीर (मे) मेरा (कः) कोई (अपि) भी (नास्ति) नहीं है (इति) इस प्रकार (अङ्गे) शरीर में (निर्ममः) ममत्वरहित (अस्तु) होवे ॥१३॥

भावार्थः—जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग ये सब पुद्गल की पर्यायें होने से काय के ही हैं, आत्मा के नहीं। चिदानन्दमय आत्मा के ये न तो उपकारक हैं और न अपकारक। ऐसी भावना भाकर समाधिमरणार्थी को शरीर में निर्ममता रखना चाहिये ॥ १३ ॥

सल्लेखना में आहारत्याग करने का समय

पिण्डे जात्यापि नाम्नापि, समो युक्त्यापि योजितः।
पिण्डो ऽस्ति स्वार्थनाशार्थो, यदा तं हापयेत्तदा ॥१४॥

अन्वयार्थौ—(अपि) आश्चर्य है कि (जात्या) पुद्गलत्वजाति से (अपि) तथा (नाम्ना) पिण्ड नाम से (समः) समान (अपि) और (पिण्डे) शरीर में (युक्त्या) शास्त्रोक्त विधि से (योजितः) प्रयुक्त किया गया (पिण्डः) आहार (यदा) जिस समय (स्वार्थनाशार्थः) अपने प्रयोजन का घातक (अस्ति) होता है (यदा) उस समय (तम्) उस आहार को (हापयेत्) त्याग करा देना चाहिये ॥१४॥

भावार्थः—पिण्डशब्द का अर्थ आहार और शरीर दोनों हैं और दोनों ही पुद्गल की पर्यायें हैं। शरीर में युक्तिपूर्वक प्रयुक्त आहारादिक शरीर का बल और ओज बढ़ाता है। बलवान् और ओजस्वी शरीर धर्मसिद्धि के लिये उपयोगी पड़ता है। परन्तु जाति तथा नाम से समान और युक्ति से प्रयुक्त भी आहारपिण्ड

जब शरीररूपी पिण्ड में उपयोगी नहीं पड़ता उस समय परिचारक आदि के द्वारा भोजन का त्याग करा देना चाहिये ॥ १४ ॥

समाधिमरण में उद्योग की रीति

उपवासादिभिः कायं, कषायं च श्रुतामृतैः।
संलिख्य गणमध्ये स्यात्, समाधिमरणोद्यमी ॥१५॥

अन्वयार्थौ—[साधकः] साधक (उपवासादिभिः) उपवास आदिक बाह्य तपों के द्वारा (कायम्) शरीर को (च) और (श्रुतामृतैः) शास्त्रोपदेशरूपी अमृतों से (कषायम्) कषाय को (संलिख्य) कृश करके (गणमध्ये) चतुर्विध संघ के समक्ष (समाधिमरणोद्यमी) समाधिमरण के लिये उद्यमी (स्यात्) होवे ॥१५॥

भाषार्थः—साधक श्रावक उपवासादि बाह्य तपों के द्वारा काय को और शास्त्रोपदेशरूपी अमृत के द्वारा कषाय को घटा कर चतुर्विधसंघ के सामने समाधिमरण ग्रहण करने के लिये तैयार होवे ॥ १५ ॥

मृत्यु के समय धर्म की आराधना और विराधना का फल

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो, विराद्धो मरणे मुधा।
स त्वाराद्धस्तत्क्षणेंऽहः, क्षिपत्यपि चिराजितम् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—(चिरम्) चिरकाल तक (आराद्धः) आराधित (अपि) भी (धर्मः) धर्म (मरणे) मरण समय में (विराद्धः) स्खलित होता हुआ (मुधा) विफल [भवेत्] हो जाता है (तु) किन्तु (तत्क्षणे) मृत्युसमय (आराद्धः) आराधित (सः) वह धर्म (चिराजितम्) चिरकाल से संचित (अंहः) पापों को (क्षिपति) नष्ट करता है ॥१६॥

भाषार्थः—दीर्घकाल तक आराधित भी धर्म यदि मरण समय पर बिगाड़ दिया जावे तो वह सब आराधना निष्फल

हो जाती है और यदि मरणसमय धर्म की आराधना सध जावे तो वह प्राणी के असंख्यात कोटि भवों में उपार्जित पापों का विनाश करती है ॥ १६ ॥

चिर धर्माराधक यति के भी मृत्युसमय सल्लेखना न सधने से अकीर्ति और आत्मकल्याण का घात

नृपस्येव यते धर्मो, चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत् ।
युधीव स्खलतो मृत्यौ, स्वार्थभ्रंशोऽयशः कटुः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—(चिरम्) चिरकाल तक (अभ्यस्तिनः) अभ्यास करने वाले (किन्तु) परन्तु (युधि) युद्ध में (स्खलतः) लक्ष्य से चूकने वाले (नृपस्य) राजा के (अस्त्रवत्) शस्त्र के समान (चिरम्) चिरकाल तक (अभ्यस्तिनः) अभ्यास करने वाले, तथापि (मृत्यौ) मरण के समय (स्खलतः) भ्रष्ट होने वाले (यतेः) मुनि का (धर्मः) धर्म (अयशःकटुः) अकीर्ति से कटुक परिणाम वाला [च] तथा (स्वार्थभ्रंशः) इष्ट प्रयोजन का घातक [स्यात्] होता है ॥१७॥

भावार्थः—जैसे चिरकाल तक शास्त्रास्त्रों का अभ्यास करने वाला राजा युद्ध के समय सावधानी नहीं रखने के कारण चूक जाय तो उसका अयश, पराजय और राज्यनाश हो जाता है और वह इष्टसिद्धि नहीं कर पाता। इसी प्रकार यति भी चिरकाल तक धर्म का अभ्यास करके यदि मरण समय धर्म की आराधना में सावधान नहीं रहकर उसकी विराधना करता है तो उसका भी अपशय और आत्मकल्याण का घात होता है और उसकी जीवन भर की धर्माराधना व्यर्थ जाती है ॥ १७ ॥

धर्माचरण के अभ्यास बिना यकायक धर्माराधन से समाधिमरण बनने का कारण

सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते, स्यादेवाराधको यदि ।
प्रतिरोधि सुदुर्वारं, किञ्चिन्नोदेति दुष्कृतम् ॥१८॥

अन्वयार्थौ—(यदि) यदि [समाधिसमये] समाधि के समय पर (प्रतिरोधि) समाधिमरण में बाधक (सुदुर्वारम्) हजारों प्रयत्नों से भी नहीं रुकने वाला (किञ्चित्) नामनिर्देशरहित कोई (दुष्कर्म) पूर्वकृत दुष्कर्म (न उदेति) उदय को प्राप्त नहीं होता [तर्हि] तो (सम्यग्भावितमार्गः) अपने जीवन में भली प्रकार रत्नत्रय की आराधना करने वाला व्यक्ति (अन्ते) मरण समय में (आराधकः) सल्लेखना साधक (स्यात् एव) होता ही है ॥१८॥

भावार्थः—रत्नत्रय की आराधना का भले प्रकार अभ्यास करके भी अन्त में जिसकी सल्लेखना नहीं बनती, उसमें उसके अनेक प्रयत्नों के द्वारा भी जिसका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे किसी पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म का उदय ही कारण है। और जिसके बिना अभ्यास के ही अन्त समय में समाधिमरण सध जाता है वह उसके शुभकर्म के उदय से केवल अन्धनिधिलाभ है ॥ १८ ॥

विशेषार्थः—चिरकाल रत्नत्रय की आराधना करने वाले साधुजन भी पूर्वोपार्जित तीव्र अशुभ कर्म के उदय से मरणसमय में सम्यग्दर्शनादिक से च्युत हो जाते हैं। तथा जिनके बिना अभ्यास के सल्लेखना की सिद्धि होती है वह उनके लिये केवल अन्धनिधिलाभ है। अर्थात् जैसे अन्धे को कभी योगायोग से बिना प्रयत्न के भी निधि का लाभ हो जाता है उसी प्रकार यह उसकी समाधिमरण की प्राप्ति समझना चाहिये।

तीव्रकर्म के उदय से समाधि से च्युत होता देखकर तथा योगायोग से बिना प्रयत्न के भी समाधिमरण प्राप्त होता देखकर

मृतिकाले नरा हन्त, सन्तोऽपि चिरभाविताः।
पतन्ति दर्शनादिभ्यः, प्राक्कृताशुभगौरवात् ॥

आश्चर्य में नहीं पड़ना चाहिये। और केवल दैवाधीन धर्माराधना की सिद्धि का आग्रह भी नहीं करना चाहिये। किन्तु जिनवचन को मानकर मृत्युसमय में समाधि के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। क्योंकि दैवयोग से प्राप्त अचलसिद्ध समाधि आदर्श नहीं मानी जा सकती।

जिसने पहले आराधना का अभ्यास नहीं किया किन्तु अन्तसमय में जिसको समाधिमरण की प्राप्ति हो उसको वृक्ष के सूखे ठूंठ में निधि का लाभ समझना चाहिये। दूसरों के लिये यह उदाहरण नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि अन्तसमय में किसी तीव्रकर्म का उदय नहीं आवे तो आराधना का अभ्यास करने वालों को अन्तसमय में आराधना की सिद्धि अवश्य होती है ॥ १८ ॥

दूरभव्य के व्रताचरण करने पर भी अकाल में मुक्ति न होने पर भी व्रताचरण की निरर्थकता कहने का निषेध

कार्यो मुक्तौ दवीयस्या—मपि यत्नः सदा व्रते।
वरं स्वः समयाकारो, व्रतान्न नरकेऽव्रतात् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—(मुक्तौ) मुक्ति के (दवीयस्याम्) अतिदूर रहने पर (अपि) भी (सदा) सर्वदा (व्रते) व्रताचरण के विषय में (यत्नः) प्रयत्न (कार्यः) करना चाहिये [यतः] क्योंकि (व्रतात्) व्रताचरण के निमित्त से (स्वः) स्वर्ग में (समयाकारः) अपना लम्बा समय व्यतीत करना (वरम्) अच्छा है। किन्तु (अव्रतात्) व्रताचरण के अभाव से (नरके) नरक में (समयाकारः) लम्बा समय व्यतीत करना (न वरम्) अच्छा नहीं है ॥१९॥

पूर्वमभावितयोगो, यद्यप्याराधयन्मृतौ कश्चित्।
स्थाणौ निधानलाभो, निदर्शनं नैव सर्वत्र ॥

भाषार्थः—दूरभव्य पने की परिस्थिति में मुक्ति कदाचित् दूर भी हो, तो भी उसके पहले संसार में रहने का जो लम्बा काल है वह हिंसादिक से उपार्जित पापों के निमित्त से नरक में रह कर व्यतीत करने की अपेक्षा अहिंसादिक व्रतों के आचरण से उपार्जित पुण्य के निमित्त से स्वर्ग में व्यतीत करना बहुत अच्छा है। इसलिये मुक्ति के दूर रहने पर भी जिन-भक्तों को व्रतों के आचरण में सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ १९ ॥

क्षपक के लिये अनशन धारण योग्य समय

धर्माय व्याधिदुर्भिक्ष - जरादौ निष्प्रतिक्रिये ।
त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन, तच्च्युतौ वाशनं त्यजेत् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—(व्याधिदुर्भिक्षजरादौ) रोग, अकाल और बुढ़ापा आदिक के (निष्प्रतिक्रिये) दुर्निवार होने पर (स्वपाकेन) आयु के नाश के कारण (तच्च्युतौ) शरीर के नाश का समय आने पर (वा) अथवा घोर उपसर्ग के उपस्थित होने पर (धर्माय) धर्म के लिये या भवान्तर में धर्म को सहचर बनाने के लिये (वपुः) शरीर को (त्यक्तुम्) छोड़ने के हेतु (अशनम्) भोजन को (त्यजेत्) त्याग देवे ॥ २० ॥

भाषार्थः—धर्मभ्रंश की सम्भावना के लिये कारणभूत और जिनका प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसे रोग, दुर्भिक्ष और बुढ़ापा आदिक के उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा के हेतु शरीर छोड़ने के लिये समाधिमरणार्थी श्रावक या मुनि भक्त प्रत्याख्यान (अनशन) करे। तथा अपने परिपाक से आयु की स्वयं क्षय होने के कारण शरीर छूटने के समय पर अनशन करे। और घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी अनशन करे। इस प्रकार शरीरत्यजन, शरीरच्यवन और शरीरच्यावन के भेद से भक्तप्रत्याख्यान तीन प्रकार का होता है ॥ २० ॥

समाधि के हेतु शरीर के कर्षण और शोधन का उपदेश

अन्नैः पुष्टो मलैर्दुष्टो, देहो नान्ते समाधये ।
तत्कश्यों विधिना साधोः, शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥२१॥

अन्वयार्थों—(अन्नैः) तरह तरह के अन्नों से (पुष्टः) पुष्ट [च] और (मलैः) विकृत वात पित्त कफ आदि से (दुष्टः) दूषित (देहः) शरीर (अन्ते) मरणसमय में (समाधये) समाधि के लिये (न) नहीं [भवति] होता (तत्) इसलिये (तदीप्सया) समाधि की इच्छा से (विधिना) सल्लेखना विधान से (अयम्) यह शरीर (साधोः) क्षपक के (कर्श्यः) कृश करने योग्य (च) तथा (शोध्यः) योग्य विरेचन वा वस्तिकर्म आदिक से जठरगत मल की शुद्धि करने योग्य [विद्यते] है ॥२१॥

भाषार्थः—नानाप्रकार के अन्नों से पुष्ट तथा वात पित्त और कफ में से किसी एक या अनेक मलों से दूषित शरीर समाधिमरण के लिये उपयोगी नहीं होता, इसलिये समाधि के इच्छुकों को विधिपूर्वक शरीर को कृश करना चाहिये । और व्याधि के कारणभूत जठराशय के मल को योग्य विरेचन वा वस्तिकर्म आदिक द्वारा शुद्ध करना चाहिये ॥ २१ ॥

सल्लेखना ऽसंलिखतः, कषायान्निष्फला तनोः ।
कायो ऽजडै र्दण्डयितुं, कषायानेव दण्ड्यते ॥ २२ ॥

अन्वयार्थों—(कषायान्) कषायों को (असंलिखतः) नहीं घटाने वाले के (तनोः) शरीर का (सल्लेखना) कृश करना, (निष्फला) निष्फल [विद्यते] है । क्योंकि (अजडैः) विवेकियों के द्वारा (कषायान्) कषायों को (एव) ही (दण्डयितुम्) निग्रह करने के लिये (कायः) शरीर (दण्ड्यते) निग्रह किया जाता है ॥ २२ ॥

भाषार्थः—काम क्रोध आदिक कषायों को कृश नहीं करने वालों का उपवासादिक द्वारा अपने शरीर का कृश करना व्यर्थ है। क्योंकि ज्ञानी जन कषाय कम करने के प्रयोजन से ही शरीर को उपवासादिक से कृश करते हैं॥ २२॥

अन्धोमदान्धैः प्रायेण, कषायाः सन्ति दुर्जयाः।
ये तु स्वाङ्गान्तरज्ञानात्, तान् जयन्ति जयन्ति ते ॥२३॥

अन्वयार्थौ—(प्रायेण) बहुधा (अन्धोमदान्धैः) आहार से उत्पन्न मानसिक हर्ष से स्व पर भेदविज्ञानरहित व्यक्तियों के द्वारा (कषायाः) कषाय (दुर्जयाः) दुर्जय (सन्ति) होते हैं (तु) और (ये) जो व्यक्ति (स्वाङ्गान्तरज्ञानात्) आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से (तान्) उन कषायों को (जयन्ति) जीतते हैं (ते) वे (जयन्ति) विजयशील हैं॥ २३॥

भाषार्थः—बहुधा अन्न के मद के वश से विवेकशून्य व्यक्तियों के द्वारा कषाय नहीं जीते जा सकते। किन्तु जो आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान द्वारा कषायों को जीतते हैं वे जयवन्ते होवें॥ २३॥

विशेषार्थः - कोई कोई अविरतसम्यग्दृष्टि संयम धारण किये बिना ही अपने भेदविज्ञान से कषायों का जीतते हैं इस बात को दर्शाने के लिये ही यहां प्रायः शब्द दिया गया है॥२३॥

क्षपक के इष्टपदार्थों के त्याग की प्रेरणा

गहनं न तनो र्हानिं, पुंसः किन्त्वत्र संयमः।
योगानुवृत्ते र्व्यावर्त्य, तदाऽऽत्माऽऽत्मनि युज्यताम् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(पुंसः) मनुष्य का (तनोः) शरीर का (हानम्) त्याग करना (गहनम्) कठिन (न) नहीं [विद्यते] है। (किन्तु)

परन्तु (अत्र) शरीरपरित्याग के समय में (संयमः) संयम का होना (गहनः) अतिकठिन [वर्तते] है (तत्) इसलिये [क्षपकेण] क्षपक के द्वारा (आत्मा) अपना आत्मा (योगानुवृत्तेः) मन वचन काय के व्यापार से (व्यावर्त्य) पृथक् करके (आत्मनि) अपने आत्मा में (युज्यताम्) लीन किया जाना चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—शरीर का त्याग करना कठिन नहीं है किन्तु शरीर का त्याग करते समय संयम का रहना अतिकठिन है। इसलिये क्षपक को त्रियोग के व्यापार से अपने आत्मा को निवृत्त कर अपने आत्मा में ही लीन करना चाहिये ॥ २४ ॥

समाधिमरण से यति वा श्रावक दोनों को फल विशेष की प्राप्ति

श्रावकः श्रमणो वान्ते, कृत्वा योग्यां स्थिराशयः ।
शुद्धस्वात्मरतः प्राणान्, मुक्त्वा स्यादुदितोदयः ॥२५॥

अन्वयार्थौ—(श्रावकः) श्रावक (वा) अथवा (श्रमणः) मुनि (अन्ते) मरणसमय में (योग्याम्) पूर्ववर्णित परिकर्म को (कृत्वा) करके (स्थिराशयः) निश्चलचित्त [च] तथा (शुद्धस्वात्मरतः) निर्मल निज चिद्रूपलीन [भवन्] होता हुआ (प्राणान्) प्राणों को (मुक्त्वा) छोड़कर (उदितोदितः) विविध अभ्युदयों को भोगकर मोक्ष का अधिकारी (स्यात्) होता है ।

भावार्थ—जो श्रावक या मुनि मरणसमय में पूर्ववर्णित परिकर्म करके स्थिरचित्त और अपने शुद्ध आत्मा में लीन होकर प्राणों को छोड़ता है वह देवादिपर्याय सम्बन्धी नाना अभ्युदयों को भोग कर अन्त में मोक्ष का अधिकारी होता है ॥ २५ ॥

निर्यापकाचार्य की सहायता से क्षपक के समाधि में विघ्नाभाव

समाधिसाधनचणे, गणेशे च गणे च न ।
दुर्दैवेनापि सुकरः, प्रत्यूहो भाविनात्मनः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थौ—(गणेशे) निर्यापकाचार्य के (च) तथा (गणे) संघ के (समाधिसाधनचणे) समाधि के साधन में तत्पर [सति] रहने पर (भावितात्मनः) आत्मचिन्तवनकारी समाधिकर्त्ता के (दुर्दैवेन) पूर्वकृत अशुभकर्म के द्वारा (अपि) भी (प्रत्यूहः) विघ्न करना (सुकरः) सरल (न) नहीं [स्यात्] होता ॥ २६ ॥

भावार्थः—जिस आत्मलीन क्षपक के सल्लेखनासम्पादन में निर्यापकाचार्य तथा संघ सहयोग देता है उसकी उल्लेखना में उसका पूर्वोपार्जित अशुभकर्म भी विघ्न नहीं कर सकता ॥२६॥

समाधिमरण की दुर्लभता

प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः, प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।
समाधिपुण्यो न परं, परमश्चरमक्षणः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थौ—(अमुना) इस (जन्तुना) प्राणी ने (प्राक्) इसभव के पहले (अनन्ताः) अनन्त (तद्भवमृत्यवः) तद्भवमरण (प्राप्ताः) प्राप्त किये (परम्) किन्तु (समाधिपुण्यः) समाधि से पवित्र (परमः) इतर सर्वक्षणों से उत्कृष्ट (चरमक्षणः) अन्तिम क्षण (न प्राप्तः) प्राप्त नहीं किया ॥ २७ ॥

भावार्थः—इस प्राणी ने इस भव के पहले अनन्त तद्भव-मरण प्राप्त किये परन्तु रत्नत्रय की एकाग्रता से पवित्र अन्तिम समय वाला सर्वोत्कृष्ट तद्भवमरण नहीं पाया। अर्थात् पहले कभी भी समाधिसहित मरण नहीं पाया ॥ २७ ॥

समाधिमरण का माहात्म्य

परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या, भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—(सर्वज्ञाः) सर्वज्ञ (चरमक्षणे) मरण के उस अन्तिमसमय में (परम्) उत्कृष्ट (माहात्म्यम्) माहात्म्य को (शंसन्ति)

बताते हैं (यस्मिन्) जिसमें (समाहिताः) रत्नत्रय की आराधना में सावधान (भव्याः) भव्य (भवपञ्जरम्) संसार-रूपी पिंजरे को (भञ्जन्ति) तोड़ते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—मरण के जिस अन्तसमय में भव्यजीव रत्नत्रय की आराधना में तत्पर होकर संसाररूपी पिंजरे का भंजन करते हैं इसलिये सर्वज्ञदेव मरण के उस अन्त समय का उत्कृष्ट माहात्म्य वर्णन करते हैं ॥ २८ ॥

समाधिमरण योग्य स्थान का निर्णय

प्रायार्थी जिनजन्मादि - स्थानं परमपावनम् ।
आश्रयेत्तदलाभे तु, योग्यमर्हद्गृहादिकम् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थौ—(प्रायार्थी) सन्यासमरण का इच्छुक क्षपक (परमपावनम्) परमपवित्र (जिनजन्मादिस्थानम्) जिनेन्द्रदेव के जन्मकल्याणक आदि स्थान को (आश्रयेत्) आश्रय करे (तु) किन्तु (तदलाभे) उस स्थान का लाभ नहीं होने पर (योग्यम्) योग्य (अर्हद्गृहादिकम्) जिनमन्दिर आदिकको (आश्रयेत्) आश्रय करे ॥ २९ ॥

भावार्थ—समाधि का इच्छुक क्षपक समाधि के हेतु जिनेन्द्रभगवान के जन्मकल्याणक आदि पवित्र तीर्थक्षेत्रों का आश्रय करे और यदि वहाँ तक पहुँचने की योग्यता नहीं हो तो जिनमन्दिर वा मठ आदिक का आश्रय करे ॥ २९ ॥

समाधिहेतु तीर्थस्थान को प्रस्थान करते समय बीच में
मरण होने पर भी आराधकत्व

प्रस्थितो यदि तीर्थाय, म्रियतेऽवान्तरे यदा ।
अस्त्येवाराधको यस्माद्, भावना भवनाशिनी ॥३०॥

अन्वयार्थौ—समाधिमरण के हेतु (तीर्थाय) तीर्थस्थान के लिये अथवा निर्यापकाचार्य के निकट जाने के लिये (प्रस्थितः) रवाना हुआ व्यक्ति (यदि) यदि (अवान्तरे) बीच में (म्रियते) मर जाता है (तदा) तो (आराधकः) आराधक (अस्ति एव) है ही (यस्मात्) क्योंकि (भावना) हार्दिक इच्छा (भावनाशिनी) संसार की नाशक [भवेत्] होती है ॥ ३० ॥

भावार्थ—समाधि की सदिच्छा से निर्यापकाचार्य की प्राप्ति के लिय अथवा तीर्थस्थान के लिये रवाना हुआ क्षपक यदि बीच में मरण को प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक ही रहता है क्योंकि उसको उस समय समाधिसाधन की भावना थी और भावना ही संसार के नाश का कारण होती है ॥ ३० ॥

तीर्थस्थान को प्रस्थान करते समय क्षमा करने वा कराने का उपदेश

रागाद्द्वेषान्ममत्वाद्वा, यो विराद्धो विराधकः ।
यश्च तं क्षमयेत्तस्मै, क्षाम्येच्च त्रिविधेन सः ॥३१॥

अन्वयार्थौ—(सः) समाधि के हेतु तीर्थस्थान को प्रस्थित वह क्षपक (रागात्) स्नेह से (द्वेषात्) क्रोध से (वा) अथवा (ममत्वात्) मोह से (यः) जो (विराद्धः) अपने द्वारा दुखित किया गया है (तम्) उससे (त्रिविधेन) मन वचन काय से (क्षमयेत्) क्षमा मांगे (च) और (यः) जो (विराधकः) अपने प्रति वैमनस्य करने वाला [विद्यते] है (तम्) उसको (त्रिविधेन) मन वचन काय से (क्षाम्येत्) क्षमा करे ॥ ३१ ॥

भावार्थ—समाधि के हेतु तीर्थस्थान को प्रस्थित वह क्षपक राग, द्वेष या मोह से अपने द्वारा जिसे दुख दिया है उससे मन वचन काय से क्षमा मांगे और जिसने अपने को दुःख दिया है उसे मन वचन काय से क्षमा करे ॥ ३१ ॥

क्षपक की क्षमा करने वा कराने का फल

तीर्णो भवार्णवस्तै र्यै, क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च ।
क्षाम्यन्ति न क्षमयतां, ये ते दीर्घाजवञ्जवाः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो क्षपक (क्षाम्यन्ति) क्षमा करते हैं (च) और (क्षमयन्ति) क्षमा मांगते हैं (तैः) उन्होंने (भवार्णवः) संसाररूपी समुद्र (तीर्णः) पार किया । किन्तु (ये) जो (क्षमयताम्) क्षमा मांगने वालों को (न क्षाम्यन्ति) क्षमाप्रदान नहीं करते हैं (ते) वे (दीर्घाजवञ्जवाः) दीर्घसंसारी [वर्तन्ते] हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जो व्यक्ति दूसरों के अपराधों की क्षमा करते हैं और अपने अपराधों की दूसरों से क्षमा मांगते हैं वे संसार-सागर से पार हो जाते हैं और जो क्षमा मांगने पर भी क्षमा नहीं करते वे पुरुष दीर्घ संसारी हैं ॥ ३२ ॥

क्षपक की आलोचनाविधि में निजापराध निवेदन

योग्यायां वसतौ काले, स्वागः सर्वं स सूरये ।
निवेद्य शोधितस्तेन, निःशल्यो विहरेत्पथि ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थौ – (सः) वह क्षपक (योग्यायाम्) आलोचना की विधि के योग्य (वसतौ) स्थान में [च और [काले] समय में (सर्वम्) समस्त (स्वागः) अपने अपराधों-अतिचारों को (सूरये) निर्यापकाचार्य के लिये (निवेद्य) निवेदन करके (तेन) उस निर्यापकाचार्य के द्वारा (शोधितः) प्रायश्चित्तविधि के अनुसार शुद्ध च] और (निःशल्यः) तीनों शल्यों रहित होता हुआ (पथि) समाधि के मार्ग में (विहरेत्) प्रवृत्ति करे ।

भावार्थ—वह क्षपक तीर्थस्थान में जाकर योग्य स्थान और समय को देखकर अपने व्रतों में लगे हुये अतिचारों की निर्यापकाचार्य के समक्ष आलोचना करे तथा आचार्य के द्वारा बताये हुये

प्रतिक्रमण के द्वारा अपने व्रतों की शुद्धि कर निःशल्य होकर रत्नत्रय की आराधना में तत्पर होवे ॥ ३३ ॥

समाधिशय्या पर आरोहरण की विधि

विशुद्धिसुधया सिक्तः, सः यथोक्तं समाधये ।
प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा, स्वस्थः संस्तरमाश्रयेत् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थौ—(सः) वह क्षपक (विशुद्धिसुधया) शारीरिक पवित्रता अथवा प्रायश्चित्तविधान सम्बन्धी विशुद्धिरूपी अमृत से (सिक्तः) स्नात होता हुआ (यथोक्तम्) आगमानुकूल (समाधये) समाधि के लिये (प्राक्) पूर्व तरफ (वा) अथवा (उदक्) उत्तर तरफ (शिरः) शिर को (कृत्वा) करके (स्वस्थः) अनाकुल होता हुआ (संस्तरम्) समाधि के हेतु चटाई या पटा आदि रूप आसन पर (आश्रयेत्) आरूढ़ होवे ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—शारीरिक पवित्रता अथवा प्रायश्चित्तविधान स्वीकृत विशुद्धिरूपी अमृत से सिक्त होकर समाधि के लिये आगमानुकूल पूर्व अथवा उत्तर की तरफ शिर करके निराकुल होता हुआ समाधि के योग्य चटाई या पटा आदि रूप आसन पर आरोहण करे ॥ ३४ ॥

संस्तरारूढ़ क्षपक को महाव्रतों की याचना करने पर मुनिलिङ्ग विधान

त्रिस्थानदोषयुक्ताया - प्यापवादिकलिङ्गिने ।
महाव्रतार्थिने दद्या - ल्लिङ्गमौत्सर्गिकं तदा ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थौ—(त्रिस्थानदोषयुक्ताय) मुष्कद्वय और लिङ्ग सम्बन्धी दोषों से सहित (आपवादिकलिङ्गिने) आपवादिकलिङ्ग अर्थात् सग्रन्थ चिह्न के धारक (अपि) भी (महाव्रतार्थिने) महाव्रतों की याचना करने वाले क्षपक के लिये [गणेशः] निर्यापकाचार्य

(तदा) उस समय (औत्सर्गिकं लिङ्गम्) मुनिवेश या मुनिदीक्षा (दद्यात्) देवे ॥ ३५ ॥

भावार्थ– मुष्कद्वय और लिङ्गसम्बन्धी दोषसहित के लिये यद्यपि मुनिदीक्षा निषिद्ध है तथापि संस्तरारोहण के समय समाधिमरणार्थी श्रावक के इन दोषों से सहित होने पर भी यदि वह मुनिदीक्षा की याचना करे तो उस समय निर्यापकाचार्य उसे मुनिदीक्षा देवे ॥ ३५ ॥

उत्कृष्ट श्रावक के उपचार से भी महाव्रत धारण का अनधिकार

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम् ।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात्, साटकेऽप्यार्यिकाऽर्हति ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ—(अपि) आश्चर्य है कि (आर्यः) ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक (कौपीने) लंगोटी में (समूर्च्छत्वात्) ममता या परिग्रह सहित होने से (भाक्तम्) उपचरित (अपि) भी (महाव्रतम्) महाव्रत को (न अर्हति) योग्य नहीं है । किन्तु (आर्यिका) आर्यिका (साटके) साड़ी में (अपि) भी (अमूर्च्छत्वात्) आसक्त या परिग्रहसहित न होने से (भाक्तम्) उपचरित (महाव्रतम्) महाव्रत को (अर्हति) योग्य है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—आश्चर्य है कि श्रावक ग्यारह प्रतिमाधारी होकर भी केवल लंगोटी धारण होने के कारण उपचरित महाव्रत का भी अधिकारी नहीं है क्योंकि उसने अपने लगोटीमात्र परिग्रह का त्याग नहीं किया है। किन्तु आर्यिका साड़ीरूप परिग्रह रखते हुये भी उपचार से महाव्रत धारिका मानी गई है। क्योंकि आर्यिका संहनन आदि दोषवश निर्ग्रन्थ दीक्षा नहीं ले सकती ॥ ३६ ॥

प्रशस्तलिङ्ग भी गृहस्थ के जिनदीक्षा का अनधिकारित्व

ह्रीमान्महर्धिको यो वा, मिथ्यात्वप्रायबान्धवः।
सोऽविविक्ते पदे नाग्न्यं, शस्तलिङ्गोऽपि नार्हति ॥३७॥

अन्वयार्थौ—(शस्तलिङ्गः) मुष्क और लिङ्ग दोषरहित (अपि) भी (यः) जो (ह्रीमान्) लज्जावान् (महर्धिकः) अधिकांश मिथ्यादृष्टि बन्धु वाला [विद्यते] है (सः) वह (अविविक्ते) बहुजनव्याप्त (पदे) स्थान में (नाग्न्यम्) दिगम्बर दीक्षा धारण को (न अर्हति) योग्य नहीं है ॥ ३७ ॥

भावार्थः—नग्नताधारण करने में जिसे लाज मालूम होती है, विपुल सम्पत्ति का धारक होने के कारण नग्न अवस्था ग्रहण करने के बाद "देखो यह कितना बड़ा श्रीमान् था और अब नग्न होकर घूमता फिरता है।" इस प्रकार लोकापवाद से जिसे डर है, अथवा जिसके बन्धुजन बहुभाग मिथ्यादृष्टि हैं और उनके द्वारा की गई निन्दा का जिसे डर है वह व्यक्ति प्रशस्तलिङ्ग होकर भी सर्वसाधारण के समक्ष नग्नत्व के लिये अधिकारी नहीं है। केवल एकान्त में जिनदीक्षा का अधिकारी है ॥ ३७ ॥

संस्तरारोहणसमय स्त्री को भी नग्नत्वदीक्षा का दान

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा, लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
पुँम्वत्तदिष्यते मृत्यु-काले स्वल्पीकृतोपधेः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थौ—(जिनैः) जिनेन्द्र भगवान ने (यत्) जो (औत्सर्गिकम्) औत्सर्गिक (वा) अथवा (अन्यत्) दूसरा पद आदिक (लिङ्गम्) लिङ्ग (उक्तम्) कहा है (तत्) वह मुनिलिङ्ग का ग्रहण आदि (मृत्युकाले) मृत्यु समय में (स्वल्पी-

कृतोपधेः) अत्यल्प परिग्रह धारण करने वाली (स्त्रियाः) आर्यिका के लिये (पुँवत्) पुरुष की तरह (इष्यते) इष्ट है ॥३८॥

भाषार्थः—जिनागम में पुरुष के लिये जिस औत्सर्गिक नग्नत्व आदिक लिङ्ग का प्रतिपादन किया गया है मृत्युकाल में समाधिधारण करते समय केवल एक साड़ीमात्र परिग्रह धारण करने वाली आर्यिका के लिये भी शास्त्रकारों ने वही नग्नत्व आदिक लिङ्ग प्रतिपादन किया है। अर्थात् पुरुष के समान स्त्री को भी मृत्युसमय नग्नत्व की दीक्षा दी जा सकती है॥३८॥

क्षपक के नग्नत्वलिङ्ग का मोह छोड़ कर स्वद्रव्य में
लीनता का विधान—

देह एव भवो जन्तो-र्यल्लिङ्गं च तदाश्रितम्।
जातिवत्तद्ग्रहं तत्र त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—(जन्तोः) प्राणी का (देहः) शरीर (एव) ही (भवः) संसार [विद्यते] है [ततः] इसलिये (तदाश्रितम्) देहाश्रित (यत्) जो (लिङ्गम्) नग्नत्वादिक लिङ्ग या पद [वर्तते] है (तत्र) उसके विषय में [अपि] भी (जातिवत्) ब्राह्मणत्वादि जाति की तरह (तद्ग्रहम्) नग्नत्वादि लिङ्ग की आसक्ति को (अपि) भी (त्यक्त्वा) छोड़ कर [क्षपकः] क्षपक (स्वात्मग्रहम्) शुद्ध स्वकीय चिद्रूप चिन्तवन में (विशेत्) प्रवेश करे ॥ ३९ ॥

भाषार्थः—वास्तव में प्राणी का शरीर ही संसार है। इसलिये ब्राह्मणत्व आदि जाति के अभिनिवेश के समान लिङ्ग सम्बन्धी अभिनिवेश को भी समाधिमरण के समय क्षपक त्याग करे और स्वकीय शुद्ध चिद्रूप के चिन्तवन में लीन होवे।

परद्रव्याभिनिवेश बन्ध का हेतु होने से उससे
प्रतिपक्ष भावना का उपदेश

परद्रव्यग्रहेणैव, यद्द बद्धो ऽ नादिचेतनः ।
तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव, मोक्ष्यते ऽ तस्तमावहेत् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थौ (यत्‌जिस कारण) से (चेतनः) यह जीव (परद्रव्यग्रहेण) शरीरादिक परद्रव्य की ममता से (एव) ही (अनादि) अनादिकाल से (बद्धः) कर्माधीन हुआ है (तत्) इसलिये (स्वद्रव्यग्रहेण) आत्मलीनता से (एव) ही (मोक्ष्यते) मुक्त हो सकता है। (अतः) इसलिये । मुमुक्षु (तम्) उस आत्मलीनता को (आवहेत्) धारण करे ॥ ४० ॥

भाषार्थः – केवल पर द्रव्य में आसक्ति से ही आत्मा अनादिकाल से बन्ध को प्राप्त हुआ है । इसलिये उस परद्रव्याभिनिवेश के प्रतिपक्षभूत स्वद्रव्य में आसक्ति से ही वह बन्ध से मुक्त हो सकता है । इस कारण मुमुक्षु को अपने शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मपरिणति के अनुभव में ही अपना उपयोग लगाना चाहिये ॥४०॥

शुद्धि और विवेकपूर्वक कृत समाधिमरण की प्रशंसा

अलब्धपूर्वं किन्तेन, न लब्धं येन जीवितम् ।
त्यक्तं समाधिना शुद्धिं, विवेकं चाप्य पञ्चधा ॥४१॥

अन्वयार्थौ—(येन) जिस क्षपक ने (पञ्चधा) पांच प्रकार की (शुद्धिम्) शुद्धि को (च) और (विवेकम्) विवेक को (आप्य) प्राप्त करके (समाधिना) समाधि से (जीवितम्) जीवन (त्यक्तम्) छोड़ा (तेन) उसने (किम्) कौन (अलब्धपूर्वम्) पहिले कभी नहीं प्राप्तहुआ महाभ्युदय (न लब्धम्) नहीं पाया।

भावार्थः—जिस क्षपक ने पांच प्रकार की शुद्धि और पांच प्रकार का विवेक प्राप्त कर समाधि से मरण किया उसने समस्त महाभ्युदयों को प्राप्त किया ॥४१॥

पांच पांच प्रकार की अन्तरङ्ग वा बहिरङ्ग शुद्धियां

शय्योपध्यालोचान्न - वैयावृत्येषु पञ्चधा ।
शुद्धिः स्यात् दृष्टिधीवृत्त-विनयावश्यकेषु वा ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ—(शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्येषु) शय्या, उपध्या, आलोचना, अन्न और वैयावृत्य के विषय में (वा) तथा (दृष्टिधीवृत्तविनयावश्यकेषु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, विनय और आवश्यक के विषय में (शुद्धिः) शुद्धि (पञ्चधा) पांच प्रकार (स्यात्) होती है ॥ ४२ ॥

भावार्थः—बहिरङ्ग शुद्धि के पांच भेद हैं। शय्याशुद्धि, उपध्याशुद्धि, आलोचनाशुद्धि, अन्नशुद्धि और वैयावृत्यशुद्धि। तथा अन्तरङ्ग शुद्धि के भी पांच भेद हैं। सम्यग्दर्शन शुद्धि, सम्यग्ज्ञान शुद्धि, सम्यक्चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि।

विशेषार्थः—बसतिस्थान और संसार को शय्या कहते हैं। संयम के उपकरण पोछी कमण्डलु आदि को उपधि कहते हैं। गुरु के सामने अपने दोषों के निवेदन को आलोचना कहते हैं। परिचारकों द्वारा किये जाने वाले पादमर्दन आदि को वैयावृत्य कहते हैं। इन शय्या आदिक विषयों में प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम सहित जो प्रवृत्ति होती है उसे बहिरङ्गशुद्धि कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन आदिक में अतिचाररहित प्रवृत्ति को अन्तरङ्गशुद्धि कहते हैं ॥ ४२ ॥

पांच पांच प्रकार का अन्तरङ्ग वा बहिरङ्ग विवेक

विवेको ऽ क्षकषायाङ्ग-भक्तोपधिषु पञ्चधा ।
स्याच्छय्योपधिकायान्न-वैयावृत्यकरेषु वा ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थौ—(अक्षकषायाङ्गभक्तोपधिषु) इन्द्रिय, कषाय, अङ्ग, भक्त और उपाधि के विषय में (वा) तथा (शय्योपाधिकायान्नवैय्यावृत्यकरेषु) शय्या, उपधि, काय, अन्न और परिचारक के विषय में (विवेकः) विवेक (पञ्चधा) पांच प्रकार (स्यात्) है ॥ ४३ ॥

भाषार्थः—अन्तरङ्गविवेक के पांच भेद हैं । इन्द्रियविवेक, कषायविवेक, अङ्गविवेक, भक्तविवेक और उपधिविवेक । तथा बहिरङ्गविवेक के भी पांच भेद हैं । शय्याविवेक, उपधिविवेक, कायविवेक, अन्नविवेक और परिचारकविवेक ॥ ४३ ॥

विशेषार्थः—मेरा चिद्रूप सबसे भिन्न है इस प्रकार अपने भिन्नरूप सिद्ध करने योग्य अध्यवसाय को विवेक कहते हैं । इन्द्रियादिकों से अपने पृथकभाव का चिन्तवन भावविवेक या अन्तरविवेक कहलाता है । तथा शय्या आदिक से अपने पृथग्भाव का चिन्तबन द्रव्यविवेक या बहिरङ्गविवेक कहलाता है ।

मुनि और श्रावक के महाव्रत की भावना में अन्तर

निर्यापके समर्प्य स्वं, भक्त्यारोप्य महाव्रतम् ।
निश्चेलो भावयेदन्य-स्त्वनारोपितमेव तत् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थौ—(निश्चेलः) समाधिकर्ता मुनि (स्वम्) अपने को (निर्यापके) निर्यापकाचार्य के ऊपर (समर्प्य) समर्पित करके (भक्त्या) भक्तिसे (महाव्रतम्) महाव्रतों को (आरोप्य) धारण करके (भावयेत्) पुनः भावना भावे (तु) तथा (अन्यः) मुनि से भिन्न

श्रावक (अनारोपितम्) धारण नहीं किये गये (एव) ही (महाव्रतम्) महाव्रतों को (भावयेत्) भावना भावे ॥ ४४ ॥

भाषार्थः—महाव्रती मुनि, क्षपक अवस्था में अपने को निर्यापकाचार्य के लिये सोंपकर भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुये महाव्रतों की पुनः पुनः भावना भावे। और अणुव्रती सग्रन्थ श्रावक क्षपक, महाव्रतों को धारण करने की भावना भावे। महाव्रतों की भावना के सम्बन्ध में सचेल और अचेल क्षपकों में यही अन्तर है ॥ ४४ ॥

सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसे, सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन्।
सनिदानं संस्तरग—श्चरेच्च सल्लेखनां विधिना ॥४५॥

अन्वयार्थौ—(संस्तरगः) संस्तर पर आरूढ़ क्षपक (जीवितमरणाशंसे) जीविताशंसा, मरणाशंसा (सुहृदनुरागम्) मित्रों में प्रेम (सनिदानम्) निदानसहित (सुखानुबन्धम्) सुखानुबन्ध को (अजन्) छोड़ता हुआ (विधिना) शास्त्रोक्त विधि से (सल्लेखनाम्) सल्लेखना को (चरेत्) करे ॥ ४५ ॥

भाषार्थः – जीविताशंसा, मरणाशंसा, सुहृदनुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखना के अतिचार हैं ॥ ४५ ॥

जीविताशंसा—यह शरीर अवश्य हेय है और जलबुद्बुद के समान अनित्य है इत्यादि बात का स्मरण नहीं करते हुये इस शरीर की स्थिति कैसे रहेगी, इस प्रकार शरीर के प्रति आदर भाव को जीविताशंसा कहते हैं। अथवा अपना सत्कार विशेष देखने से, अधिक वैयावृत्य के देखने से तथा अनेक व्यक्तियों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनने से ऐसा विचार करना कि चार प्रकार के आहार का त्याग करके भी मेरा जीवन कायम रहे तो

बहुत अच्छा है, क्योंकि यह सब उपरोक्त विभूति मेरे जीवन के निमित्त से ही हो रही है इस प्रकार जीवन की आकांक्षा को जीविताशंसा कहते हैं।

मरणाशंसा—प्राप्त जीवन में रोगों के उपद्रव की आकुलता से संश्लिष्ट क्षपक का मरण के प्रति उपयोग लगाना अथवा चतुर्विध आहार का त्याग करने पर भी यदि कोई पूजा या आदर नहीं करता, कोई उसकी प्रशंसा नहीं करता उस समय उसके चित्त में मेरा शीघ्र मरण हो जावे तो बहुत अच्छा हो इस प्रकार परिणामों के होने को मरणाशंसा कहते हैं।

सुहृदनुराग—बाल्यकाल में अपने मित्रों के साथ हमने ऐसे खेल खेले हैं, हमारे अमुक मित्र विपत्ति पड़ने पर सहायता करते थे और हमारे मित्र उत्सवों में तत्काल उपस्थित होते थे इस प्रकार बालमित्रों के प्रति अनुराग भावों को पुनः पुनः स्मरण करना अथवा बाल्यावस्था में साथ खेलने वाले मित्रों का अनुस्मरण करना सुहृदनुराग कहलाता है।

सुखानुबन्ध—मैंने ऐसे भोग भोगे हैं, मैं ऐसी शय्याओं पर सोता था, मैं इस प्रकार खेलता था इत्यादि प्रकार से प्रीतिविशेष का पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध कहलाता है।

निदान—इस दुस्तर तप के प्रभाव से मुझे जन्मान्तर में इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती इत्यादि पद की प्राप्ति होवे इस प्रकार भविष्य में अभ्युदय की वाञ्छा को निदान कहते हैं।

क्षपक की परिचर्या के हेतु परिचारकों की नियुक्ति

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये, यथार्हं गुणवत्तमान् ।
सूरिस्तं भूरि संस्कुर्यात्, स ह्यार्याणां महाक्रतुः ॥४६॥

अन्वयार्थौ—(सूरिः) निर्यापकाचार्य (तत्कृत्ये) क्षपक की परिचर्या के विषय में (यथार्हम्) यथायोग्य (गुणवत्तमान्) सम्यग्दर्शनादिक उत्तमगुणों के धारक (यतीन्) यतियों को (नियुज्य) नियुक्त करके (तम्) उस क्षपक को (भूरि) विशेष (संस्कुर्यात्) संस्कृत करे (हि) क्योंकि (सः) वह समाधि-साधनविधि (आर्याणाम्) यतियों का (महाक्रतुः) परमयज्ञ [विद्यते] है ॥ ४६ ॥

भाषार्थः—निर्यापकाचार्य क्षपक के आमर्श आदि शारीरिक कार्य, विकथाओं के निवारण, धर्मकथा, भक्तपान, शय्या-साधन और मलोत्सर्ग के विषय में यथायोग्य रीति से गुणी यतियों की नियुक्ति करे और आराधक के रत्नत्रय को खूब संस्कृत करे। क्योंकि क्षपक की समाधि का साधन कराना यतियों के लिये परम यज्ञ है ॥ ४६ ॥

क्षपक को आहारविशेष दिखाकर भोजनासक्ति का निषेध

योग्यं विचित्रमाहारं, प्रकाश्येष्टं तमाशयेत्।
तत्रासजन्तमज्ञानात्, ज्ञानाख्यानै र्निवर्तयेत् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—[सूरिः] निर्यापकाचार्य (तम्) उस क्षपक को (योग्यम्) उचित या भक्ष्य [च] तथा (विचित्रम्) नानाप्रकार के (आहारम्) भोजन को (प्रकाश्य) दिखाकर (इष्टम्) क्षपक के प्रिय भोजन को (आशयेत्) जिमावे [च] और (अज्ञानात्) अज्ञान से (तत्र) उस इष्ट भोजन में (आसजन्तम्) आसक्त होने वाले क्षपक को (ज्ञानाख्यानैः) बोधप्रद कथानकों द्वारा (निवर्तयेत्) व्यावृत्त करे ॥ ४७ ॥

भाषार्थः—निर्यापकाचार्य क्षपक को योग्य और नानाप्रकार के आहार दिखा कर उसके इच्छित पदार्थ उसे खिलावे। कोई विवेकी क्षपक तो उन भोज्य पदार्थों को देख कर इस प्रकार

वैराग्य और संवेग भावना भाता है कि मैं भवसमुद्र के किनारे आ चुका हूँ। अब मुझे इन भोज्यों से क्या प्रयोजन है। कोई क्षपक उन इष्ट भोज्य पदार्थों में से कुछ को ग्रहण कर शेष का परित्याग कर देता है। और कोई क्षपक उनका आस्वादन करके आसक्त भी हो जाता है। क्योंकि मोह की लीला विचित्र है। इसलिये निर्यापकाचार्य इष्ट भोजन में तत्त्वज्ञान के अभाव से आसक्ति रखने वाले क्षपक को समाधिपूर्वक मरने वालों के बोधप्रद आख्यानों द्वारा विरक्त करे ॥ ४७ ॥

क्षपक को आहार के परिहार करने का क्रम

भो निर्जिताक्ष ! विज्ञात-परमार्थ ! महायशः।
किमद्य प्रतिभान्तीमे, पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थौ—(भो निर्जिताक्ष !) हे जितेन्द्रिय (विज्ञात-परमार्थ) परमार्थ तत्त्व के जानकर (महायशः) यशस्विन् क्षपक (इमे) ये (पुद्गलाः) भोजन-शयन-आसन आदिक पुद्गल (तव) तुझे (अद्य) आज (स्वहिताः) आत्मा के उपकारक (प्रतिभान्ति किम्) मालूम होते हैं क्या ? ॥ ४८ ॥

भाषार्थः—भोजनादिक में आसक्ति रखने वाले संस्तरगत क्षपक को निर्यापकाचार्य इन उत्साहवर्धक सम्बोधनों से समझावे कि हे इन्द्रियविजयी ! निश्चयतत्त्व के जानकार ! विशाल यशस्वी ! क्षपक ! तुझे आत्मलीनताधारण करने योग्य इस समय ये पुद्गल आत्महितकारक मालूम हो रहे हैं क्या ? ॥ ४८ ॥

क्षपक के लिये भोजनादिक के अनुपकारित्व का प्रदर्शन

किं कोऽपि पुद्गलः सोऽस्ति, यो भुक्त्वा नोज्झितस्त्वया।
न चैष मूर्तोऽमूर्तस्ते, कथमप्युपयुज्यते ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थौ—(सः) वह (कः) कोई (अपि) भी (पुद्गलः) पुद्गल (अस्ति किम्) है क्या ? (यः) जो (त्वया) तूने (भुक्त्वा) भोग कर (न उज्झितः) नहीं छोड़ दिया है (एषः) यह (मूर्तः) मूर्तिक पुद्गल (अमूर्तेः) अमूर्तिक (ते) तेरे (कथम्) किसी भी प्रकार (न उपयुज्यते) उपयोगी नहीं है ॥ ४६ ॥

भाषार्थः—अनादिकाल से संसार में बसने वाले जीव के ऐसा कोई भी पुद्गल बाकी नहीं है जिसको जीव ने इन्द्रियों द्वारा भोग कर छोड़ नहीं दिया हो। अतएव हे क्षपक तुझे इन पुद्गलों में आसक्ति नहीं करना चाहिये। क्योंकि तू अमूर्तिक है और पुद्गल मूर्तिक। इसलिये आत्मा से सर्वथा भिन्नस्वभाव पुद्गल अमूर्तिक आत्मा के लिये किसी भी प्रकार से उपकारक नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

आत्मा के पुद्गल का अभोक्तृत्व

केवलं करणैरेन - मलं ह्यनुभवन्भवान् ।
स्वभावमेवेष्टमिदं, भुञ्जे ऽहमिति मन्यते ॥ ५० ॥

अन्वयार्थौ—(करणैः) इन्द्रियों के द्वारा (एनम्) इस पुद्गल को (अलम्) विषय करके (हि) निश्चय से (स्वभावम्) स्वभाव को (एव) ही (अनुभवन्) अनुभव करने वाला (भवान्) तू (इदम्) इस (इष्टम्) इष्ट वस्तु को (अहम्) मैं (भुञ्जे) भोग कर रहा हूँ (इति) इस प्रकार (केवलम्) केवल (मन्यते) मानता है ॥ ५० ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! 'मैं इष्ट पदार्थ का भोग कर रहा हूँ, तेरी जो ऐसी समझ है, वह केवल कल्पना है। क्योंकि वास्तव में पुरोवर्ती पुद्गलों को विषय करके तेरा जो विषयी स्वभाव है वास्तव में तू उसका ही उपभोग करता है। किन्तु केवल पुरोवर्ती

पुद्गल का उपभोग करता हूँ, यह मानता है। क्योंकि अध्यात्म ग्रन्थों में अपने संकल्पविकल्प का ही भोग बतलाया है, पदार्थ का नहीं, इस बात को ही यहाँ दर्शाया है॥ ५०॥

पुद्गल के भोक्तृत्व की भ्रान्ति के परित्याग का उपदेश

तदिदानीमिमां भ्रान्ति - मभ्याजोन्मिषतीं हृदि।
स एष समयो यत्र, जाग्रति स्वहिते बुधाः॥ ५१॥

अन्वयार्थौ—(तत्) इसलिये (इदानीम्) इस समय (हृदि) हृदय में (उन्मिषतीम्) उठती हुई (इमाम्) इस (भ्रान्तिम्) अभोग्य पुद्गल में भोग्यता के भ्रम को (अभ्याज) छोड़ [यतः] क्योंकि (सः) प्रसिद्ध (एषः) यह (समयः) समय [विद्यते] है (यत्र) जिसमें (बुधाः) तत्त्वज्ञानी (स्वहिते) अपने हित के विषय में (जाग्रति) सावधान होते हैं॥ ५१॥

भाषार्थः—पूर्व कथनानुसार पुद्गल वास्तव में इन्द्रियों द्वारा भोग्य नहीं है, केवल मैं पुद्गलों का भोग करता हूँ यह भ्रम ही है। इसलिये हे क्षपक! हृदय में उठने वाले इस भ्रम का तू त्याग कर। क्योंकि यह वह समय है जिसमें तत्त्वज्ञानी आत्म-हित के विषय में सावधान होते हैं॥ ५१॥

परद्रव्य से आसक्ति छूटने का उपाय

अन्योऽहं पुद्गलश्चान्यः, इत्येकान्तेन चिन्तय।
येनापास्य परद्रव्य—ग्रहवेशं स्वमाविशेः॥ ५२॥

अन्वयार्थौ—(अहम्) मैं (अन्यः) भिन्न [अस्मि] हूँ [च] और (पुद्गलः) पुद्गल (अन्यः) भिन्न [विद्यते] है (इति) इस प्रकार (एकान्तेन) सर्वथा अटलरूप से (चिन्तय) भावना कर (येन) जिस भेदज्ञान से (परद्रव्यग्रहवेशम्) परद्रव्य

में आसक्ति को (अपास्य) छोड़ कर (स्वम्) अपने आत्मद्रव्य के उपयोग में (आविशेः) तत्पर होवे ॥ ५२ ॥

भाषार्थः—हे आराधक तू "मैं पुद्गल से सर्वथा भिन्न हूँ और पुद्गल मेरे से सर्वथा भिन्न है ऐसा निश्चय से चिन्तवन कर जिससे कि तू परद्रव्य में आसक्ति को छोड़ कर स्वद्रव्य के उपयोग में ही तत्पर होवे ॥ ५२ ॥

पुद्गल में आसक्ति से जन्मान्तर में दुःख

क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो, म्रियेथास्तद्ध्रुवं चरेः ।
तं कृमीभूय सुस्वादु - चिर्भटिकासक्तभिक्षुवत् ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थौ—(चेत्) यदि [त्वम्] तूं [क्व] किसी (पुद्गले) पुद्गल में (सक्तः) आसक्त [सन्] होता हुआ (म्रियेथाः) मरेगा (तत्) तो (ध्रुवम्) निश्चय से (सुस्वादु-चिर्भटिकासक्तभिक्षुवत्) स्वादिष्ट कचरिया में आसक्त हुये भिक्षुक के समान (कृमीभूय) उसी पुद्गल का कीड़ा होकर (तम्) उस पुद्गल को (चरेः) खावेगा ॥ ५३ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! यदि तू किसी पुद्गल में आसक्त होकर मरण को प्राप्त होगा तो कचरिया के भक्षण में आसक्त हुये भिक्षुक के समान उसी पुद्गल में जन्म लेकर उसी पुद्गल का भक्षक बनेगा । इसलिये परद्रव्य में आसक्ति को छोड़ ॥ ५३ ॥

अन्न की अनुपकारकता वा उसमें तृष्णा का निषेध

किञ्चाङ्गस्योपकार्यन्नं, न चैतत्तत्प्रतीच्छति ।
तच्छिन्धि तृष्णां भिन्धि त्वं, देहाद्रुन्धि दुरास्रवम् ॥५४॥

अन्वयार्थौ—(किञ्च) तथा (अन्नम्) अन्न (अङ्गस्य) शरीर का (उपकारि) उपकारक [विद्यते] है (च) और (एतत्

यह शरीर (तत्) उस अन्न को (न प्रतीच्छति) अपने उपकार रूप से नहीं चाहता है । (तत्) इसलिये (त्वम्) तू (तृष्णाम्) अन्न की तृष्णा को (छिन्धि) छोड़ [च] और (स्वम्) अपने को (देहात्) शरीर से (भिन्धि) भिन्न समझ । तथा (दुरास्रवम्) अशुभास्रव को (रुन्धि) रोक ॥ ५४ ॥

भावार्थः—वास्तव में मूर्तिक के द्वारा मूर्तिक का ही उपकार हो सकता है । इसलिये अन्न देह का ही उपकारी है, आत्मा का नहीं । और तेरी इस अवस्था में तेरा यह देह अन्न को उपकाररूप से ग्रहण नहीं कर रहा है किन्तु उल्टा अपकारक सिद्ध हो रहा है । इसलिये हे क्षपक ! अब अन्न की तृष्णा को छोड़ कर देह से आत्मा को पृथक् अनुभव कर और तृष्णाजनित दुरास्रव को रोक ॥ ५४ ॥

क्षपक को कवलाहार का त्याग कराकर स्निग्ध पान का उपदेश

इत्थं पथ्यप्रथासारै - र्वितृष्णीकृत्य तं क्रमात् ।
त्याजयित्वाऽशनं सूरिः, स्निग्धपानं विवर्धयेत् ॥५५॥

अन्वयार्थौ—(सूरिः) निर्यापकाचार्य (इत्थम्) पूर्वोक्त प्रकार से (पथ्यप्रथासारैः) हितोपदेशरूपी धाराप्रवाही मेघ-वृष्टि से (तम्) उस क्षपक को (वितृष्णीकृत्य) तृष्णारहित करके (क्रमात्) क्रम से (अशनम्) कवलाहार को (त्याजयित्वा) त्याग कराकर (स्निग्धपानम्) दुग्धादि स्निग्ध पेय-पदार्थ के आहार को (विवर्धयेत्) बढ़ावे ॥ ५५ ॥

भावार्थः—इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक के हृदय में उठने वाली अन्नभक्षण की तृष्णा को हितोपदेशरूपी धारा प्रवाही मेघवृष्टि से शमन करके क्रम क्रम से कवलाहार का त्याग करा कर दुग्ध आदि स्निग्ध पेय आहार को बढ़ावे ।

अर्थात् खाद्य आहार का त्याग करा कर पेय आहार को बढ़ावे।

पेयाहार के भेद और क्षपक को खरपान कराने का उपदेश

पानं षोढा घनं लेपि, ससिक्थं सविपर्ययम्।
प्रयोज्य हापयित्वा तत्, खरपानं च पूरयेत् ॥५६॥

अन्वयार्थौ—(पानम्) पेयपदार्थ (षोढा) छह प्रकार [विद्यते] है (सविपर्ययम्) अपने विपरीत से सहित (घनम्) घन (लेपि) लेपि [च] तथा (ससिक्थम्) ससिक्थ [सूरिः] निर्यापकाचार्य (तत्) उस पेयाहार को (प्रयोज्य) खिलवा कर (च) और (हापयित्वा) त्याग करा कर (खरपानम्) खरपान को (पूरयेत्) बढ़ावे ॥ ५६ ॥

भाषार्थः—पेयाहार (स्निग्धपान) के छह भेद हैं। घन, अघन, लेपि, अलेपि, ससिक्थ और असिक्थ। निर्यापकाचार्य परिचारकों के द्वारा क्षपक के लिये इन छह प्रकार के स्निग्धपानों को खिलवा कर क्रम क्रम से उनका भी त्याग कराकर खरपान की वृद्धि करे॥ ५६ ॥

विशेषार्थः—घनपेय—दही आदि पीने योग्य गाढ़ी वस्तु। अघनपेय—इमली आदिक फलों का रस तथा कांजी आदि पतली पेय वस्तु। लेपि—हाथों से चिपकने वाली पेय वस्तु। ससिक्थ—कणसहित पेयवस्तु, जैसे छांछ आदिक। असिक्थ—स्वयमेव पतली पेयवस्तु, जैसे दही के ऊपर का पानी। खर-पान = शुद्ध कांजी और गरमजल ॥ ५६ ॥

सल्लेखना की दुर्लभता और अतिचारों से रक्षा का उपदेश

शिक्षयेच्चेति तं सेय-मन्त्या सल्लेखनार्य ! ते।
अतिचारपिशाचेभ्यो, रक्षैनामतिदुर्लभाम् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थौ—(च) और (सूरिः) निर्यापकाचार्य (तम्) उस क्षपक को (इति) वक्ष्यमाण प्रकार से (शिक्षयेत्) शिक्षा देवें [यत्] कि (आर्य) हे क्षपक ! (ते) तेरी (सा) प्रसिद्ध (इयम्) यह (सल्लेखना) सल्लेखना (अन्त्या) मारणान्तिकी [विद्यते] है । अतएव (अतिदुर्लभाम्) अत्यन्त दुर्लभ (एनाम्) इस सल्लेखना को (अतिचारपिशाचेभ्यः) अतिचार रूपी पिशाचों से (रक्ष) रक्षा कर ॥ ५७ ॥

भाषार्थः—निर्यापकाचार्य क्षपक को यह शिक्षा भी देवे कि हे आर्य तेरी यह परमागमप्रसिद्ध वह मारणान्तिक सल्लेखना है जो जिनागम में अत्यन्त दुर्लभ बताई गई है । इसलिये तूं अतिचार रूपी पिशाचों से इसकी भली प्रकार रक्षा कर ॥५७॥

क्षपक के जीविताशंसा का निषेध

प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां, मा शंस स्थास्नु जीवितम् ।
भ्रान्त्या रम्यं बहि र्वस्तु, हास्यः को नायुराशिषा ॥५८॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (अस्याम्) इस (प्रतिपत्तौ) आचार्यादिकों द्वारा की जाने वाली परिचर्या की विधि में अथवा महापुरुषों द्वारा प्राप्त गौरव या आदर में (सजन्) आसक्त होता हुआ [त्वम्] तूं (जीवितम्) जीवन को (स्थास्नु) स्थिरतर (मा शंस) इच्छा मत कर [यतः] क्योंकि (बहिः) बाह्य (वस्तु) वस्तु (भ्रान्त्या) भ्रम से [एव] ही (रम्यम्) सुन्दर [जायते] होती है [च] तथा (आयुरा-शिषा) चिरजीवी होने की आकाङ्क्षा से (कः) कौन (न हास्यः) हँसी का पात्र नहीं होता ? ॥ ५८ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! तूं आचार्यादिकों द्वारा की जाने वाली परिचर्या की विधि में अथवा महापुरुषों द्वारा प्राप्त गौरव

व आदर में आसक्त होता हुआ अपने जीवन की स्थिरता की इच्छा मत कर। क्योंकि बाह्य वस्तु भ्रम से ही सुन्दर होती है और चिरजीवन की आकाङ्क्षा से किसका उपहास नहीं हुआ?

क्षपक के मरणाशंसा का निषेध

परीषहभयादाशु, मरणे मा मतिं कृथाः ।
दुःखं सोढ़ा निहन्त्यंहो, ब्रह्म हन्ति मुमूर्षुकः ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (परीषहभयात्) असह्य क्षुधा आदिक की वेदना के भय से (आशु) शीघ्र (मरणे) मृत्यु के विषय में (मतिम्) इच्छा को (मा कृथाः) मत कर [यतः] क्योंकि (दुखम्) परीषहों को (सोढा) बिना संक्लेश के सहन करने वाला व्यक्ति (अंहः) पूर्वोपार्जित कर्मों को (निहन्ति) नष्ट करता है तथा (मुमूर्षुकः) कुत्सितविधि से मरने का इच्छुक व्यक्ति (ब्रह्म) अपने सम्यग्ज्ञान या मोक्ष को (निहन्ति) नष्ट करता है ॥ ५६ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! तूं क्षुधा आदिक परीषहों से डर कर शीघ्र मरण की इच्छा मत कर। क्योंकि कर्म अपना फल अवश्य देते हैं। जो समता से परीषहों को सहन कर लेते हैं उनके नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता और संचित कर्मों की निर्जरा हो जाती है। तथा जो परिषहों से घबड़ा कर कुमरण करते हैं, वे अपने सम्यग्ज्ञान वा मोक्ष का घात करते हैं। अर्थात आत्मघात से दीर्घ संसार होता है ॥ ५६ ॥

क्षपक के सुहृदनुराग का निषेध

सहपांसुक्रीडितेन स्वं, सख्या मानुरञ्जय ।
ईदृशै र्बहुशो भुक्तै - र्मोहदुर्ललितैरलम् ॥ ६० ॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (सहपांसुक्रीडितेन) बाल्यकाल में जिनके साथ धूलि में खेल खेले हैं उन (सख्या) मित्रों से (स्वम्) अपने को (मा अनुरञ्जय) अनुरागयुक्त मत कर । क्योंकि (बहुशः) अनेक बार (भुक्तैः) भोगे हुये (ईदृशैः) इस प्रकार मित्रानुराग के स्मरण सम्बन्धी (मोहदुर्ललितैः) मोहनीय कर्म के परिपाकसे उत्पन्न अनुरागमय परिणामोंसे (किम्) क्या लाभ है।

भावार्थः—हे उपासक ! तू अपने सहपांसुक्रीडित बालमित्रों से अनुरक्त होकर उनका पुनः पुनः स्मरण मत कर । क्योंकि इन मोहजनित अनुरागमय भावों को तूंने बार बार भोगा है। अब तू परलोक की सिद्धि में तत्पर है, इसलिये अब इनसे तुझे क्या प्रयोजन है । क्योंकि ये अनुरागमय भाव परलोक की सिद्धि के बाधक हैं, इसलिये इनसे मोह छोड़ ॥ ६० ॥

क्षपक के सुखानुबन्ध का निषेध

मा समन्वाहर प्रीति - विशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिम् ।
वासितो ऽक्षसुखैरेव, बम्भ्रमीति भवे भवी ॥६१॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (कुत्रचित्) पूर्वानुभूत किसी (प्रीतिविशिष्टे) अपने प्रिय इन्द्रियविषय में (स्मृतिम्) स्मृति को (मा समन्वाहर) बार बार मत कर (यतः) क्योंकि (अक्षसुखैः) इन्द्रियविषयजन्य सुखों से (एव) ही (वासितः) आसक्त होता हुआ (भवी) संसारी (भवे) संसार में (बम्भ्रमीति) पुनः पुनः जन्म-धारण कर रहा है ॥ ६१ ॥

भावार्थः—हे क्षपक ! इस समय तू भुक्तपूर्व इन्द्रियविषयों में अपने अत्यधिक प्रिय विषय की बार बार स्मृति मत कर क्योंकि इन्द्रिय विषयों में आसक्ति से ही संसारी प्राणी चतुर्गति-रूप संसार में बार बार भ्रमण कर रहा है ॥६१॥

क्षपक के निदान करने का निषेध

मा काङ्क्षी भाविभोगादीन्, रोगादीनिव दुःखदान्।
वृणीते कालकूटं हि, कः प्रसाद्येष्टदेवताम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थौ—हे उपासक! (रोगादीन् इव) रोगादिक के समान (दुःखदान्) दुःखदायक (भाविभोगादीन्) भावी भोगादिक इष्ट विषयों को (मा काङ्क्षीः) इच्छा मत कर (हि) क्योंकि (इष्टदेवताम्) इष्टदेव या देवी को (प्रसाद्य) प्रसन्न करके (काल-कूटम्) हालाहल विष को (कः) कौन (वृणीते) मांगेगा ॥ ६२ ॥

भाषार्थः—जैसे रोग और इष्टवियोग आदिक दुःखदायी हैं वैसे ही भावी इष्टविषयों की इच्छा भी दुःखदायी है। इसलिये हे क्षपक तूं! 'मेरे इस तप के माहात्म्य से मुझे परभव में अमुक पद, भोग, आज्ञा या ऐश्वर्य की प्राप्ति हो, ऐसी इच्छा मत कर। क्योंकि जैसे इष्टदेवता की आराधना कर शीघ्र प्राण-घातक विष की प्रार्थना करना मूर्खता है उसी प्रकार मुक्तिदायक तप से राग के समान दुःखदायक भोगरूपफल की प्राप्ति की इच्छा करना भी मूर्खता है ॥ ६२ ॥

क्षपक के चतुर्विध आहार के त्याग का विधान

इति व्रतशिरोरत्नं, कृतसंस्कारमुद्वहन्।
खरपानक्रमत्यागात्, प्राये ऽ यमुपवेक्ष्यति ॥ ६३ ॥
एवं निवेद्य संघाय, सूरिणा निपुणेक्षिणा।
सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं, यावज्जीवं त्यजेत्त्रिधा ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थौ—(इति) इस प्रकार से (कृतसंस्कारम्) निरति-चारपालन से अतिशयरूप संस्कार को प्राप्त (व्रतशिरोरत्नम्) सल्लेखनाव्रतरूपी चूड़ामणि रत्न को (उद्वहन्) धारण करने वाला

(अयम्) यह क्षपक (खरपानक्रमत्यागात्) क्रमशः गरम जल का भी त्याग कर देने से (प्राये) उपवास के विषय में (उपवेक्ष्यति) प्रवेश करेगा (एवम्) इस प्रकार (निपुणेक्षिणा) सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने वाले निर्यापकाचार्य के द्वारा (संघाय) संघ के लिये (निवेद्य) सूचित करके (अनुज्ञातः) अनुमति को प्राप्त हुआ (सः) वह क्षपक (अखिलाहारम्) चतुर्विधाहार को (यावज्जीवम्) जीवनपर्यन्त के हेतु (त्यजेत्) छोड़ देवे ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

भावार्थः—निरतिचार सल्लेखना का धारक क्षपक "यह क्षपक क्रम क्रम से गरम जल का भी त्याग करके चतुर्विध आहार के प्रत्याख्यान में प्रवेश करेगा इस प्रकार" संघ को सूचित करने वाले तथा व्याधि, देश, काल, बल, आहारसात्म्य, परीषहक्षमता, संवेग और वैराग्य आदि का सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने वाले निर्यापकाचार्य के द्वारा अनुमति प्राप्त कर मरणपर्यन्त के लिये त्रियोग से चतुर्विध आहार का त्याग करे ॥ ६३-६४ ॥

विशेषार्थः—पूर्व में धारण किये हुये सब व्रतों की सफलता सल्लेखना के सधने से ही होती है। इसलिये जैसे सम्पूर्ण आभरणों में चूड़ामणि रत्न का सर्वोत्कृष्ट स्थान है उसी प्रकार सल्लेखना का सब व्रतों में उच्च स्थान है। इसलिये इसको व्रत का शिरोरत्न कहा है। जैसे संस्कार से रत्न में विशेषता आती है उसी प्रकार अतिचारों को दूर करने से व्रतों में अतिशयपना प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

आहारके सर्वथात्यागमें असमर्थके भी जलत्याग का समय

व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा, समाध्यर्थं विकल्पयेत् ।
भृशं शक्तिक्षये जह्यात्, तदप्यासन्नमृत्युकः ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थौ—(वा) अथवा (व्याध्याद्यपेक्षया) व्याधि

आदिक की अपेक्षा से (समाध्यर्थम्) समाधि की सिद्धि के लिये (अम्भः) जल को (विकल्पयेत्) गुरु की सम्मति से ग्रहण करे। तथा (भृशम्) अत्यन्त (शक्तिक्षये) शक्ति के क्षीण होने पर (आसन्नमृत्युकः) निकट मृत्यु वाला होता हुआ क्षपक (तत्) उस पानी को (अपि) भी (जह्यात्) छोड़े ॥ ६५ ॥

भावार्थ:—पैत्तिकव्याधि, ग्रीष्मकाल, मरुस्थलादिकदेश; पित्तप्रकृति आदिक कारणों से जो क्षपक परीषहों के वेग को नहीं सह सकता वह समाधि के लिये गुरु की आज्ञा से जलमात्र का ग्रहण करे, शेष तीन प्रकार के भोजनों का सर्वथा त्याग कर देवे। किन्तु जिस समय शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जावे तथा मृत्यु अतिशयनिकट आ जावे उस समय पानी का भी त्याग अवश्य कर देवे ॥ ६५ ॥

क्षपक की मृत्युसमय उसके हितकारी संघ का कर्त्तव्य

तदाखिलो वर्णिमुख - ग्राहितक्षमणो गणः ।
तस्याविघ्नसमाधान-सिद्ध्यै तद्यात्तनूत्सृतिम् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थौ—(तदा) क्षपक की मृत्यु का समय उपस्थित होने पर (वर्णिमुखग्राहितक्षमणः) किसी ब्रह्मचारी के द्वारा बुलाई है क्षपक के प्रति क्षमा जिसने ऐसा (अखिलः) समस्त (गणः) संघ (तस्य) उस क्षपक की (अविघ्नसमाधानसिद्धये) निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिये (तनूत्सृतिम्) कायोत्सर्ग को (तद्यात्) करे ॥ ६६ ॥

भावार्थः—संघ की ओर से किसी ब्रह्मचारी को खड़ा कर निर्यापकाचार्य क्षपक के प्रति बुलवावे कि—'हम यथाकथंचित् सम्भव अपने अपराधों की तुमसे क्षमा मांगते हैं और क्षमा भी करते हैं। इस प्रकार त्रियोग से क्षमायाचना और क्षमाप्रदान

विधि करके संघ उस क्षपक की निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के हेतु कायोत्सर्ग करे ॥ ६६ ॥

निर्यापक द्वारा क्षपक के कर्ण में मृत्युसमय उपदेश

ततो निर्यापकाः कर्णे, जपं प्रायोपवेशिनः।
दद्युः संसारभयदं, प्रीणयन्तो वचोऽमृतैः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौ—(ततः) इस विधि के बाद (निर्यापकाः) समाधि की सिद्धि कराने में तत्पर मुनि (वचोऽमृतैः) अपने वचन-रूपी अमृत से (प्रीणयन्तः) क्षपक को सन्तुष्ट करते हुये (प्रायोपवेशिनः) क्षपक के (कर्णे) कान में (संसारभयदम्) संसार से भयोत्पादक (जपम्) उपदेश को (दद्युः) देवें ॥६७॥

भाषार्थः—कायोत्सर्ग के बाद समाधि को सिद्ध कराने में तत्पर निर्यापक मुनि अपने वचनरूपी अमृत से क्षपक को सन्तृप्त करते हुये क्षपक के कान में संसार से संवेग और वैराग्य उत्पादक उपदेश देवें ॥ ६७ ॥

मरणासन्न क्षपक को निर्यापक का उपदेश

मिथ्यात्वं वम सम्यक्त्वं, भजोर्जय जिनादिषु।
भक्तिं भावनमस्कारे, रमस्व ज्ञानमाविश ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (मिथ्यात्वम्) मिथ्यात्व को (वम) निकाल दे (सम्यक्त्वम्) सम्यक्त्व को (भज) सेवन कर (जिनादिषु) अरिहन्त आदिक में (भक्तिम्) भक्ति को (ऊर्जय) बढ़ा (भावनमस्कारे) अरिहन्तादिक के गुणानुराग में (रमस्व) रमण चिन्तवन कर [च] तथा (ज्ञानम्) बाह्य वा अन्तरङ्ग तत्त्वावबोध में (आविश) लवलीन हो ॥ ६८ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! अब तू मिथ्यात्व का वमन कर सम्यक्त्व की भावना भा, अरिहन्तादिक में भक्ति बढ़ा,

अरिहन्तादिक के गुणों का चिन्तवन कर और तत्त्वावबोध में लवलीन हो ॥ ६८ ॥

मरणासन्न क्षपक को निर्यापक का उपदेश

महाव्रतानि रक्षोच्चैः, कषायाञ्जय यन्त्रय ।
अक्षाणि पश्य, चात्मान-मात्मनात्मनि मुक्तये ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (मुक्तये) मुक्ति के लिये (महाव्रतानि) अपने महाव्रतों को (रक्ष) रक्षा कर (कषायान्) कषायों को (उच्चैः) भलीप्रकार (जय) जीत (अक्षाणि) इन्द्रियों को (यन्त्रय) वश में कर (च) और (आत्मनि) आत्मा में (आत्मना) आत्मा के द्वारा (आत्मानम्) आत्मा को (पश्य) देख ॥ ६६ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक तू मुक्ति के लिये अपने महाव्रतों की रक्षा कर, कषायों को जीत, इन्द्रियों को वश में कर और स्वात्मोपलब्धि में तत्पर हो ॥६६॥

मिथ्यात्व से हानि

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु, नाभून्नास्ति न भावि वा ।
तद्दुःखं यन्न दीयेत, मिथ्यात्वेन महारिणा ॥७०॥

अन्वयार्थौ—(अधोमध्योर्ध्वलोकेषु) अधोलोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्वलोक में (तत्) वह (दुःखम्) दुःख (न अभूत्) न था (न अस्ति) न है (वा) और (न भावि) न होगा (यत्) जो (दुःखम्) दुःख (महारिणा) महान् शत्रु (मिथ्यात्वेन) मिथ्यात्व के द्वारा (न दीयेत) नहीं दिया जाता है ॥७०॥

भाषार्थः—लोकत्रय में ऐसा कोई दुःख न था, न है और न होगा जो मिथ्यात्वरूपी विशाल शत्रु के द्वारा नहीं दिया जाता हो ॥ ७० ॥

विशेषार्थः—इस जीव के अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व के रहने पर ही अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सभी शत्रु अपकारक होते हैं इसलिये मिथ्यात्व ही जीव का महाशत्रु है। मिथ्यात्व के कारण जीव को सदा सर्वत्र दुःख ही प्राप्त होता है॥ ७०॥

मिथ्यात्व का प्रभाव वा दृष्टान्त

सङ्घश्री र्भावयन्भूयो, मिथ्यात्वं वन्दकाहितम्।
धनदत्तसभायां द्राक्, स्फुटिताक्षोऽभ्रमद् भवम्॥७१॥

अन्वयार्थौ—(वन्दकाहितम्) वन्दक के निमित्त से प्राप्त (मिथ्यात्वम्) मिथ्यात्व को (भूयः) पुनः (भावयन्) भाता हुआ (संघश्रीः) धनदत्त राजा का मंत्री संघश्री (धनदत्तसभायाम्) धनदत्त की सभा में (द्राक्) जल्दी (स्फुटिताक्षः) फूट गई हैं आंखें जिसकी ऐसा होता हुआ [मृत्वा] मर कर (भवम्) संसार में (अभ्रमत्) भटका॥ ७१॥

भाषार्थः—धनदत्त राजा का मंत्री संघश्री पहले सम्यग्दृष्टि था परन्तु उसने धनदत्त राजा की सभा में वन्दक के निमित्त से अन्तरङ्ग में पुनः मिथ्यात्व की प्राप्ति की। उसके प्रभाव से उसकी आंखें फूटीं और वह संसारचक्र में भटक गया॥ ७१॥

सम्यक्त्व से लाभ

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु, नाभून्नास्ति न भावि वा।
तत्सुखं यन्न दीयेत, सम्यक्त्वेन सुबन्धुना॥ ७२॥

अन्वयार्थौ—(अधोमध्योर्ध्वलोकेषु) लोकत्रय में (तत्) वह (सुखम्) सुख (न अभूत्) न था (न अस्ति) न है (वा) और (न भावि) न होगा (यत्) जो सुख (सुबन्धुना) सच्चे बन्धु (सम्यक्त्वेन) सम्यक्त्व के द्वारा (न दीयेत) न दिया जाता हो॥ ७२॥

भाषार्थः—लोकत्रय में वह सुख न था, न है और न होगा जो सम्यग्दर्शन रूपी बन्धु के द्वारा नहीं दिया जाता हो ॥ ७२ ॥

सम्यक्त्व का प्रभाव वा दृष्टान्त

प्रह्रासितकुदृग्बद्ध-श्वभ्रायुःस्थितिरेकया ।
दृग्विशुद्ध्यापि भविता, श्रेणिकः किल तीर्थकृत् ॥७३॥

अन्वयार्थौ—(किल) आगम में ऐसा सुना जाता है कि (अपि) आश्चर्य है कि (एकया) केवल एक (दृग्विशुद्धया) दर्शनविशुद्धि के प्रभाव से (श्रेणिकः) महाराज श्रेणिक (प्रह्रासित-कुदृग्बद्धश्वभ्रायुःस्थितिः) मिथ्यात्व की अवस्था में बांधी हुई तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु की स्थिति को कम करके रत्नप्रभा पृथिवी की चौरासी हजार वर्षकी की है जिसने ऐसा [भवन्] होता हुआ (भवान्तरे) आगे के भव में (तीर्थकृत्) तीर्थङ्कर (भविता) होगा।

भाषार्थः—राजा श्रेणिक ने अपनी अवस्था के पूर्वार्ध में मिथ्यात्व के उदय से सप्तमनरक की उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण आयु का बन्ध किया था। पीछे दर्शनविशुद्धि की प्राप्ति से उनकी वह बद्ध नरकायु अत्यन्त कम होकर केवल ८४ हजार वर्ष की रह गई थी और उसीकारण श्रेणिक के तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध भी हुआ था। जिसके प्रभाव से वे अग्रिम भव में तीर्थङ्कर भी होने वाले हैं ॥ ७३ ॥

अर्हद्भक्ति के माहात्म्य का वर्णन

एकैवास्तु जिने भक्तिः, किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः ।
या दोग्धि कामानुच्छिद्य, सद्योऽपायानशेषतः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थौ—(एका) एक (एव) ही (जिने) जिनदेव में (भक्तिः) आन्तरिक अनुराग (अस्तु) हो (स्वेष्टसाधनैः) इष्टसिद्धि साधक (अन्यैः) और पुरुषार्थों से (किम्) क्या प्रयोजन है (या) जो जिनभक्ति (अशेषतः) समस्त (अपायान्) अभ्युदय-

घातक विघ्नों को (उच्छिद्य) नष्ट कर (कामान्) मनोरथों को (दोग्धि) पूर्ण करती है ॥ ७४ ॥

भाषार्थः—मुक्ति के लिये समस्त पुरुषार्थों में जिनभक्ति ही परम पुरुषार्थ है। उसके बिना शेष पुरुषार्थ पुरुषार्थ ही नहीं हैं, इसलिये पुरुषार्थरूप में अकेली जिनभक्ति ही बहुत है, जो अभ्युदयघातक समस्त विघ्नों का नाश कर समस्त मनोरथों को पूर्ण करती है ॥ ७४ ॥

अर्हद्भक्ति के माहात्म्य का दृष्टान्त

वासुपूज्याय नमः इत्यु-क्त्वा तत्संसदं गतः।
द्विदेवारब्धविघ्नोऽभूत्, पद्मः शक्रार्चितो गणी ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थौ—(वासुपूज्याय) वासुपूज्य भगवान् के लिये (नमः) नमस्कार [अस्तु] हो (इति) इस प्रकार (उक्त्वा) उच्चारण कर (द्विदेवारब्धविघ्नः) दो देवों के द्वारा किया गया है विघ्न जिसके ऐसा (अपि) भी (तत्संसदम्) वासुपूज्य भगवान के समवसरण को (गतः) प्राप्त (पद्मः) पद्मरथ राजा (शक्रार्चितः) इन्द्रादिक से पूज्य (गणी) गणधर (अभूत्) हुआ।

भाषार्थः—पद्मरथ राजा ने वासुपूज्य भगवान के समवसरण को प्रस्थान किया। उस समय उसके पूर्वभव के वैरी दो देवों ने अनेक विघ्न किये। परन्तु राजा ने 'वासुपूज्य के लिये नमस्कार हो' इस प्रकार मंत्र का उच्चारण किया। जिससे उन देवों के विहित विघ्न विफल हुये। और राजा पद्मरथ भगवान के समवसरण में निर्विघ्न पहुँच गया ॥ ७५ ॥

विशेषार्थः—पद्मरथ मिथिलादेश का राजा था। उसके पूर्वभव में धन्वन्तरि और विश्वानुलोम नामक दो वैरी थे। वे मर कर देव हुये थे और उन्होंने वासुपूज्य भगवान के समवसरण को जाते समय पद्मरथ को बहुत विघ्न किये थे।

वासुपूज्य भगवान की भक्ति से उसके विघ्न दूर हुये। उसने दीक्षा ली और शीघ्र ही गणधर हुआ। अर्हद्भक्ति का इतना बड़ा प्रताप है।

अर्हन्नमस्कार का माहात्म्य

एको ऽप्यर्हन्नमस्कार - श्चेद्विशेन्मरणे मनः।
सम्पाद्याभ्युदयं मुक्ति- श्रियमुत्कयति द्रुतम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थौ—(चेत्) यदि (मरणे) मरणसमय में (एकः) एक (अपि) भी (अर्हन्नमस्कारः) अरिहन्त भगवान को भक्तिपूर्वक किया गया नमस्कार (मनः) मन में (विशेत्) प्रवेश करे [तर्हि] तो [सः] वह (अभ्युदयम्) महान वृद्धि को (सम्पाद्य) सम्पादन करके (द्रुतम्) शीघ्र (मुक्तिश्रियम्) मुक्तिलक्ष्मी को (उत्कयति) उत्कण्ठित करता है ॥ ७६ ॥

भाषार्थः—मरण के समय अरिहन्त भगवान के प्रति किया गया भाव नमस्कार क्षपक के अन्तः करण में यदि व्याप्त हो जावे तो उसके प्रभाव से क्षपक अनन्तर भव में ही अथवा दो तीन भवों में मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

अर्हन्नमस्कार के माहात्म्य का दृष्टान्त

स णमो अरिहंताण - मित्युच्चारणतत्परः।
गोपः सुदर्शनीभूय, सुभगाह्वः शिवं गतः ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थौ—(णमो अरिहंताणम्) णमो अरिहंताणं (इति) इस प्रकार (उच्चारणतत्परः) उच्चारण में तत्पर (सः) वह जिनागमप्रसिद्ध (सुभगाह्वः) सुभगनामक (गोपः) ग्वाल (सुदर्शनीभूय) सुदर्शन सेठ होकर (शिवम्) मोक्ष को (गतः) प्राप्त हुआ ॥ ७७ ॥

भाषार्थः—सुभग नाम का ग्वाल 'णमो अरिहंताणं'

पद का उच्चारण कर मरने पर वृषभदास सेठ के यहां सुन्दर और सम्यग्दृष्टि सुदर्शन नामक पुत्र होकर मोक्ष को प्राप्त हुआ।

ज्ञानोपयोग का माहात्म्य

स्वाध्यायादि यथाशक्ति, भक्तिपीतमनाश्चरन्।
तात्कालिकाद्भुतफला-दुदर्के तर्कमस्यति ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थौ—(भक्तिपीतमनाः) भक्ति से अनुरक्त चित्त वाला [च] और (यथाशक्ति) शक्ति के अनुसार (स्वाध्यायादि) स्वाध्याय आदिक को (चरन्) करने वाला व्यक्ति (तात्कालिकाद्भुतफलात्) तत्काल प्राप्त होने वाले अद्भुत फल की प्राप्ति के योग से (उदर्के) उत्तर काल में (तर्कम्) संशय को (अस्यति) नष्ट करता है ॥ ७८ ॥

भाषार्थः—भक्ति से; मन लगा कर और अपने बल वीर्य को नहीं छिपा कर जो मुनियों के स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्म करता है वह अपने आवश्यक कर्मों के करने से प्राप्त होने वाले चिदानन्दमय फल के द्वारा आगम में वर्णित स्वाध्यायादि के फल के विषय में किसी को संदेह नहीं रहने देता।

ज्ञानोपयोग के माहात्म्य का दृष्टान्त

शूले प्रोतो महामन्त्रं, धनदत्तार्पितं स्मरन्।
दृढशूर्पो मृतो ऽभ्येत्य, सौधर्मात्तमुपाकरोत् ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थौ—(शूले) शूली पर (प्रोतः) चढ़ाया गया (दृढसूर्पः) दृढ़शूर्प चोर (धनदत्तार्पितम्) धनदत्तसेठ के द्वारा दिये गये (महामन्त्रम्) महामन्त्र को (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (मृतः) मरा [च] और (सौधर्मात्) सौधर्म स्वर्ग से (अभ्येत्य) आकर (तम्) उस धनदत्त को (उपाकरोत्) उपकृत करता हुआ ॥ ७९ ॥

भाषार्थः—शूली पर चढ़े हुये दृढ़शूर्प चोर को धनदत्त सेठ ने महामन्त्र दिया था। उसका स्मरण करते हुये मरण को

प्राप्त दृढ़शूर्प चोर सौधर्म स्वर्ग में ऋद्धिधारक देव हुआ। वहां से आकर उसने उस धनदत्त सेठ का उपसर्ग निवारण कर अनेक उपकार किये ॥ ७६ ॥

अविधिपूर्वक कृत स्वाध्यायादि का फल

खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन्, स्वाध्यायादि स्वयंकृतैः ।
मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्योऽपि, यमः सप्तर्धिभूरभूत् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थौ—(मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्यः) मुनिनिन्दा से प्राप्त हुई है मूढ़ता जिसको ऐसा (अपि) भी (यमः) यमनामक राजा [मुनिः] मुनि [भूत्वा] होकर (स्वयंकृतैः) स्वरचित (त्रिभिः) तीन (खण्डश्लोकैः) खण्डश्लोकों द्वारा (स्वाध्यायादि) स्वाध्याय आदिक (कुर्वन्) करता हुआ (सप्तर्धिभूः) सात ऋद्धियों का धारक महामुनि (अभूत्) हुआ।

भाषार्थः—मुनि की निन्दा से मूढ़ता को प्राप्त भी यम नाम का राजा स्वनिर्मित तीन खण्डश्लोकों द्वारा स्वाध्याय आदि करने के प्रभाव से सप्त ऋद्धियों का धारक मुनि हुआ था।

विशेषार्थः—बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण ये सात ऋद्धियां हैं। कंडसि पुणुणं स्वेवसि रेगंदहा। जवं पत्थेसि खाविदुं ॥ १ ॥ अंणत्थ कि फलो वहां तुम्ही इत्थ बुधिया छिंदे। अंके च्छेद इको णिया ॥ २ ॥ अह्मा दोणं दि भयं दिहादोदिसराभय तुह्म ॥ ३ ॥ ये तीन खण्ड श्लोक हैं।

अहिंसा का माहात्म्य

अहिंसाप्रत्यपि दृढं, भजन्नोजायते रुजि ।
यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे, स सर्वाः क्षिपते रुजः ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थौ—(अहिंसाप्रति) थोड़ी सी अहिंसा के प्रति (अपि) भी (दृढम्) दृढ़ता को (भजन्) धारण करने वाला व्यक्ति (रुजि) उपसर्ग के समय (ओजायते) दुःखाभिभूत नहीं होता (तु) तथा

(यः) जो (अहिंसासर्वस्वे) सम्पूर्ण अहिंसा के विषय में (अधि) अधिकारी [जायते] होता है (सः) वह (सर्वाः) सम्पूर्ण (रुजः) दुःखों को (क्षिपति) नष्ट करता है ॥ ८१ ॥

भाषार्थः—जो थोड़ी भी अहिंसा के पालन में दृढ़ता धारण करता है वह उपसर्ग के उपस्थित होने पर दुःखाभिभूत नहीं होता तथा जो अहिंसा पर पूर्णरीति से आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, वह समस्त उपसर्गों पर विजय प्राप्त करता है ॥ ८१ ॥

विशेषार्थः—अहिंसाप्रति शब्द में 'स्तोके प्रतिना' सूत्र से अव्ययीभावसमास हुआ है। अहिंसासर्वस्वे पद में 'ईश्वरेऽधि' सूत्र से सप्तमी हुई है। जिसका अर्थ 'सम्पूर्ण अहिंसा' का अधीश्वर होता है ॥ ८१ ॥

अहिंसा के माहात्म्य का उदाहरण

यमपालो ह्रदेऽहिंसन् - नेकाहं पूजितोऽप्सुरैः ।
धर्मस्तत्रैव मेण्ढघ्नः, शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थौ—(एकाहम्) केवल एक दिन (अहिंसन्) अहिंसाव्रत पालने वाला (यमपालः) यमपाल चाण्डाल (ह्रदे) शिशुमार सरोवर में (अप्सुरैः) जलदेवताओं के द्वारा (पूजितः) पूजा गया (तु) और (मेण्ढघ्नः) राजा के मेंढे का घातक (धर्मः) सेठ का पुत्र धर्म (तत्र) उस सरोवर में (एव) ही (शिशुमारैः) शिशुमार जन्तुओं के द्वारा (भक्षितः) खाया गया ।

भाषार्थः—बनारस नगर में चतुर्दशी के दिन एकदेश अहिंसा-व्रत की प्रतिज्ञा का पालक यमपाल चाण्डाल वहाँ के शिशुमार सरोवर में जलदेवों द्वारा पूजा गया और वहीं पर राजा के मेंढ़े का वध करने वाला एक सेठ का पुत्र धर्म शिशुमारों के द्वारा भक्षण किया गया ॥ ८२ ॥

असत्यवादन से हानि वा अनर्थ

मा गां कामदुघां मिथ्या-वादव्याघ्रोन्मुखीं कृथाः ।
अल्पो ऽपि हि मृषावादः, श्वभ्रदुःखाय कल्पते ॥८३॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक ! (कामदुघाम्) इच्छित पदार्थ दायक (गाम्) वाणी को (मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखीम्) असत्यवादनरूप व्याघ्र के सन्मुख (मा कृथाः) मत कर (हि) क्योंकि (अल्पः) थोड़ा (अपि) भी (मृषावादः) मिथ्या-भाषण (श्वभ्रदुःखाय) नरकों के दुःखों के सम्पादन के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥८३॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! तू इच्छितपदार्थदायक वचन को मिथ्याभाषणरूपी व्याघ्र के सन्मुख मत जाने दे। क्योंकि थोड़ासा भी मिथ्याभाषण नरक के दुःखों का सम्पादक होता है ॥ ८३ ॥

विशेषार्थः—इच्छितपदार्थदायक होने से वाणी एक प्रकार की कामधेनु है। और जैसे व्याघ्र गाय का भक्षक प्रसिद्ध है उसी प्रकार मिथ्याभाषण सत्य का घातक है ॥ ८३ ॥

असत्यवादन के अनर्थ का दृष्टान्त

अजै र्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति ।
व्याख्यां छागैरिति परा-वर्त्यागान्नरकं वसुः ॥८४॥

अन्वयार्थौ—(त्रैवार्षिकैः) तीन वर्ष के (अजैः) अजों द्वारा (यष्टव्यम्) यज्ञ करना चाहिये (इत्यत्र) इस आगमवचन के विषय में (त्रैवार्षिकैः धान्यैः) तीन वर्ष पुराने धान्य के द्वारा (इति) इस (व्याख्याम्) अर्थ को (त्रैवार्षिकैः छागैः) तीन वर्ष के बकरों द्वारा (इति) इस प्रकार (परावर्त्य) बदल कर (वसुः) वसु राजा (नरकम्) नरक को (अगात्) गया ॥ ८४ ॥

भाषार्थः—अजशब्द के दो अर्थ हैं। पुरानी धान और बकरा। 'अजै र्यष्टव्यम्' इस आगम उपदेश के समय अजशब्द का

अर्थ पुरानी धान है किन्तु वसु राजा ने वहाँ वह अर्थ बदल कर तीन वर्ष की उम्र वाला बकरा अर्थ कर दिया था। जिससे यज्ञादिकों में हिंसा की प्रवृत्ति हुई। और वसु राजा नरक को गया ॥ ८४ ॥

विशेषार्थः—'न जायन्ते इति अजाः' जो अंकुरित नहीं हो सकते हैं उन्हें अज कहते हैं। ऐसे तीन वर्ष पुराने जो आदि धान्यों के द्वारा शान्ति वा पौष्टिक कार्य करना चाहिये यह क्षीरकदम्बकाचार्य का व्याख्यान था। परन्तु पर्वत और नारद के विवाद के समय पर राजा वसु ने अज का अर्थ बकरा कर दिया था। तब से यज्ञादिक में हिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस झूठ के कारण राजा वसु नरक को गया ॥ ८४ ॥

चोरी का प्रभाव

आस्तां स्तेयमभिध्यापि, विध्याप्याऽग्निरिव त्वया ।
हरन् परस्वं तदसून्, जिहीर्षन्स्वं हिनस्ति हि ॥८५॥

अन्वयार्थौ—भो समाधिमरणार्थिन् (स्तेयम्) चोरी (आस्ताम्) दूर रहे (अभिध्या) परधन की इच्छा (अपि) भी (त्वया) तेरे द्वारा (अग्निः इव) अग्नि के समान (विध्याप्या) दूर की जाना चाहिये (हि) क्योंकि (परस्वम्) परधन को (हरन्) हरने वाला (तदसून्) धनी के प्राणों को जिहीर्षन्) हरने की इच्छा करता हुआ (स्वम्) अपने आत्मा की (हिनस्ति) हिंसा करता है ॥८५॥

भावार्थः—हे क्षपक ! तू चोरी की तो बात ही क्या ? अपने अन्तःकरण में परधन की इच्छा को भी स्थान मत दे। क्योंकि जो परधन को हरने की इच्छा करता है उसके पर के प्राणों के घात की इच्छा अवश्य रहती है। और परघात की इच्छा वास्तव में आत्म-हिंसा ही है ॥ ८५ ॥

चोरी से हानि का दृष्टान्त

रात्रौ मुषित्वा कौशाम्बीं, दिवा पञ्चतपश्चरन् ।
शिक्यस्थस्तापसोऽधोऽगात्, तलारकृतदुर्मृतिः ॥८६॥

अन्वयार्थौ—(रात्रौ) रात्रि में (कौशाम्बीम्) कौशाम्बी नगरी की जनता को (मुषित्वा) मूष कर-चुरा कर (च) और (दिवा) दिन में (पञ्चतपः) पञ्चाग्नितप को (चरन्) तपता हुआ (शिक्यस्थः) लटकते हुये सींके पर रहने वाला (तापसः) भौतिक तापस (तलारकृतदुर्मृतिः) कोतवाल के द्वारा कृत आर्त रौद्र ध्यान से कुमरण को प्राप्त होता हुआ (अधः) नरक को (अगात्) गया ॥ ८६ ॥

भाषार्थः—भौतिक तापस दिन में पञ्चाग्नि तप तपता था तथा " मैं परधन का ऊँचा त्यागी हूँ, पराई भूमि का भी मैं स्पर्श नहीं करता हूँ " इस बात को घोषित करने के लिये जो सदैव सींके के ऊपर रहता था। वही साधु रात्रि में कौशाम्बी की जनता को लूटता था। इसलिये समय पाकर कोतवाल के द्वारा पकड़ा गया और आर्तरौद्रपूर्वक मरण होने से नरक गया।

ब्रह्मचर्य की दृढ़ता के विधान का उपदेश

पूर्वेऽपि बहवो यत्र, स्खलित्वा नोद्गताः पुनः ।
तत्परं ब्रह्म चरितुं, ब्रह्मचर्यं परं चरेः ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थौ—(यत्र) जिस ब्रह्मचर्य व्रत में (पूर्वे) प्राचीन (बहवः) बहुत से रुद्रादिक (स्खलित्वा) अतीचार लगा कर (पुनः) फिर (न उद्गताः) अपने को नहीं सम्हाल सके (ब्रह्म) शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आत्मा को (परम्) उत्कृष्ट या निर्विकल्पक (चरितुम्) अनुभव करने को (तत्) उस (परम्) निरतिचार (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य महाव्रत को (चरेः) पालन कर ॥ ८७ ॥

भाषार्थः—जिस ब्रह्मचर्य के विषय में स्खलित होकर वर्तमान मुनियों की तो बात ही क्या ? प्राचीन रुद्रादिक भी

स्खलित होकर फिर अपने को नहीं सम्हाल सके। हे क्षपक! शुद्धज्ञान और शुद्धात्मा के उत्कृष्ट अनुभव के लिये तूं उस निरतिचार ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन कर ॥ ८७ ॥

अपरिग्रह महाव्रत की दृढ़ता का उपदेश

मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रु - नवनीतस्य दुर्मृतेः

मोपेक्षिष्ठाः क्वचिद् ग्रन्थे, मनो मूर्छन्मनागपि ॥८८॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक! (मिथ्येष्टस्य) अनुचित मनोरथ वाले (श्मश्रुनवनीतस्य) श्मश्रुनवनीत के (दुर्मृतेः) कुमरण का (स्मरन्) स्मरण करने वाला [त्वम्] तं (क्वचित्) किसो (ग्रन्थे) परिग्रह में (मनाक्) थोड़ा (अपि) भी (मूर्छन्) ममत्वकारी (मनः) मन को (मा उपेक्षिष्ठाः) उपेक्षा मत कर अर्थात् वश में कर ॥ ८८ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक! केवल परिग्रह की वाञ्छा के कारण ही श्मश्रुनवनीत का दुर्मरण हुआ है इसको ध्यान में रख कर "वह मेरा है, मैं इसका हूँ" इस प्रकार संकल्परूप भावपरिग्रह की ओर यदि तेरे मन का झुकाव होवे तो तूं उसकी ओर से अपने मन को रोक ॥ ८८ ॥

निश्चयनय से परिग्रह की प्रतिपत्ति का उपदेश

बाह्यो ग्रन्थोऽङ्गमक्षाणा - मान्तरो विषयैषिता।

निर्मोहस्तत्र निर्ग्रन्थः, पान्थः शिवपुरेऽर्थतः ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थौ—(बाह्यः) बाह्य (ग्रन्थः) परिग्रह (अङ्गम्) शरीर [विद्यते] है [च] और (अक्षाणाम्) इन्द्रियों का (विषयैषिता अभिलाषीपना (आन्तरः) अन्तरङ्ग परिग्रह [वर्तते] है [तत्र] इन दोनों प्रकार के परिग्रहों में (निर्मोहः) ममत्वरहित व्यक्ति (अर्थतः) वास्तव में (शिवपुरे) मोक्षमार्ग में (पान्थः) प्रस्थानकर्त्ता [अस्ति] है।

भाषार्थः—शरीर को बाह्य और इन्द्रियों के विषयों के प्रति अभिलाषीपन को अन्तरङ्ग परिग्रह कहते हैं। इन दोनों प्रकार

के परिग्रह का ही नाम ग्रन्थ है। जो इस ग्रन्थ से रहित है उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। अर्थात् शरीर और इन्द्रियविषयों से ममता के त्यागी को निर्ग्रन्थ कहते हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग में प्रस्थान करते हैं ॥ ८९ ॥

कषाय और इन्द्रिय कृत अपायों का वर्णन

कषायेन्द्रियतन्त्राणां, तत्तादृग्दुःखभागिताम् ।
परामृशन्मा स्म भवः, शंसितव्रत ! तद्वशः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थौ—(हे शंसितव्रत !) भो प्रशस्तव्रतधारक (कषायेन्द्रियतन्त्राणाम्) कषाय और इन्द्रियों के परतन्त्र व्यक्तियों के (तत्तादृग्दुःखभागिताम्) उस अवर्णनीय दुःखानुभवन को (परामृशन्) विचारता हुआ [त्वम्] तूं (तद्वशः) इन कषाय और इन्द्रियों के वश (मा स्म भवः) मत हो ॥ ९० ॥

भाषार्थः—प्रशस्तरीति से व्रतधारक हे क्षपक ! कषाय और इन्द्रियों के वश हो जाने वाले व्यक्तियों के आगमोक्त दुःखानुभवन का विचार कर तू इन कषाय और इन्द्रियों के वश में मत हो।

व्यवहाराधना के बाद निश्चयाराधना का उपदेश

श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा, पदं वाक्षरमेव वा ।
यत्किञ्चिद्रोचते तत्रा—लम्ब्य चित्तलयं नय ॥९१॥

अन्वयार्थौ—अहो व्यवहाराराधनातत्पर क्षपक ! (श्रुतस्कन्धस्य) श्रुतस्कन्ध का (वाक्यम्) वाक्य (वा) अथवा (पदम्) पद (वा) अथवा (अक्षरम्) अक्षर (एव) ही (यत्) जो (किञ्चित्) कुछ (तुभ्यम्) तेरे लिये (रोचते) रुचता हो (तत्र) उसमें (आलम्ब्य) आसक्त होकर (चित्तलयम्) चित्त की तन्मयता को (नय) कर ॥ ९१ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! अब तुम्हारी शक्ति क्षीण है। इसलिये श्रुतस्कन्ध का आध्यात्मिक या बाह्य वाक्य, णमो अरिहन्ताणम् इत्यादिक पद अथवा अ सि आ उ सा इनमें से कोई एक

अक्षर जो कुछ तुम्हें रुचता हो उसका अवलम्बन कर अपने चित्त को तन्मय करो। क्योंकि श्रुतज्ञान सम्बन्धी वाक्य, पद या अक्षर का अवलम्बन निश्चय आराधना का साधन है॥ ९१ ॥

शुद्ध स्वात्मा में तन्मयता का उपदेश

शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य ! स्वसंविदा ।
भावयँस्तल्लयापास्त-चिन्तो मृत्वैहि निर्वृतिम् ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थौ—(आर्य) हे क्षपक (श्रुतेन) श्रुत से (शुद्धम्) राग, द्वेष और मोह रहित शुद्ध (स्वात्मानम्) अपने चिद्रूप आत्मा को (गृहीत्वा) ग्रहण कर (स्वसम्विदा) स्वसम्वेदन से (भावयन्) अनुभव करता हुआ (तल्लयापास्तचिन्तः) शुद्ध स्वात्मा की तन्मयता से सर्व सङ्कल्पों से दूर होते हुये (मृत्वा) प्राण छोड़कर (निर्वृतिम्) मोक्ष को (एहि) प्राप्त कर ॥ ९२ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! श्रुत के अवलम्बन से आत्मा के स्वरूप को ज्ञान दर्शन मय समझ स्वसम्वेदन के द्वारा तदनुसार अनुभव करते हुये सब विकल्पों का त्याग करके निर्विकल्पक होकर प्राणों को छोड़ कर मुक्ति को प्राप्त हो ॥ ९२ ॥

निश्चयसमाधिमरण का लक्षण

सन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवेदिभिः ।
यः स्वस्वभावे विन्यासो, निर्विकल्पस्य योगिनः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थौ—(निर्विकल्पस्य) निर्विकल्पक (योगिनः) योगी का (यः) जो (स्वस्वभावे) अपने स्वभाव में (विन्यासः) स्थिरता [विद्यते] है (सः) वह (हि) ही (निश्चयवादिभिः) निश्चयवादियों के द्वारा (निश्चयेन) निश्चयनय से (सन्यासः) समाधिमरण (उक्तः) कहा गया है ॥ ९३ ॥

भाषार्थः—व्यवहारसापेक्ष निश्चयवादी आचार्य निर्विक-

क्षपक योगी की आत्मा के स्वस्वभाव में स्थापन को निश्चय समाधि कहते हैं ॥ ९३ ॥

परीषहादि से विक्षिप्त क्षपक के प्रति निर्यापक का कर्त्तव्य

परीषहो ऽथवा कश्चि-दुपसर्गो यदा मनः ।
क्षपकस्य क्षिपेज्ज्ञान—सारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थौ—(यदा) जब (कश्चित्) कोई (परीषहः) परीषह (अथवा) अथवा (उपसर्गः) उपसर्ग (क्षपकस्य) क्षपक के (मनः) मन को (क्षिपेत्) चलायमान करे (तदा) उस समय [सूरिः] निर्यापकाचार्य (ज्ञानसारैः) ज्ञान के उपदेशों से (तत्) उस क्षपक के मन को (प्रत्याहरेत्) शुद्धोपयोग के सन्मुख करे ॥ ९४ ॥

भावार्थः—समाधि के समय किसी परीषह या उपसर्ग के निमित्त से क्षपक का मन शुद्धोपयोग से चलायमान होवे तो निर्यापकाचार्य सारभूत व्याख्यानों द्वारा उसके मन को शुद्धोपयोग के सन्मुख करे ॥ ९४ ॥

परीषहादि से विचलित क्षपक के प्रति निर्यापक का उपदेश

दुःखाग्निकीलैराभीलै — र्नरकादिगतिष्वहो ।
तप्तस्त्वमङ्गसंयोगाज्, ज्ञानामृतसरो ऽविशन् ॥ ९५ ॥

अन्वायार्थौ—(अहो) हे क्षपक (ज्ञानामृतसरः) ज्ञानामृतरूपी सरोवर में (अविशन्) अवगाहन नहीं करने वाला [त्वम्] तूं (अङ्गसंयोगात्) शरीर के सम्बन्ध से (नरकादिगतिषु) नरकादिक गतियों में (आभीलैः) अनिवार्य (दुःखाग्निकीलैः) शारीरिक-व्याधि और मानसिक आधि रूपी दुःख की ज्वालाओं से (तप्तः) सन्ताप को प्राप्त हुआ ॥ ९५ ॥

भावार्थः—हे क्षपक ! तूने भेदज्ञानरूपी सरोवर में अवगाहन नहीं किया है और बहिरात्मा बन रहा है इसलिये तूं

शरीर के सम्बन्ध से चारों गतियों में अनिवार्य दुःखों से सन्तप्त हो रहा है ॥ ६५ ॥

भेदज्ञानी और परिचारकोपकृत क्षपक के दुःखाभाव

इदानीमुपलब्धात्म—देहभेदाय साधुभिः।
सदानुगृह्यमाणाय, दुखं ते प्रभवेत् कथम् ॥ ६६ ।

अन्वयार्थौ—(इदानीम्) अब (उपलब्धात्मदेहभेदाय) प्राप्त हुआ है आत्मा और देह का भेदविज्ञान जिसके ऐसे तथा (साधुभिः) परिचारक साधुओं के द्वारा (सदा) सर्वदा (अनुगृह्यमाणाय) अनुग्रह को प्राप्त (ते) तेरे लिये (दुःखम्) दुःख (कथम्) कैसे (प्रभवेत्) आक्रमण कर सकता है ? ॥ ६६ ॥

भाषार्थः—भेदविज्ञान होने पर चतुर्गति का दुःख नहीं होता। और इस समय तुमने भेदज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा साधुजन सदा साधकरूप से तुम्हारा अनुग्रह करने में उद्यत हैं। फिर तुम्हारे ऊपर किसी प्रकार का दुःख अपना प्रभाव कैसे डाल सकता है ? ॥ ६६ ॥

बहिरात्मा और अन्तरात्मा का लक्षण

दुःखं सङ्कल्पयन्ते ते, समारोप्य वपु र्जडाः।
स्वतो वपुः पृथक्कृत्य, भेदज्ञाः सुखमासते ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो (वपुः) शरीर को (समारोप्य) आत्मा मानकर (दुःखम्) दुःख (सङ्कल्पयन्ते) अनुभव करते हैं (ते) वे (जडाः) बहिरात्मा [कथ्यन्ते] कहलाते हैं। परन्तु [ये] जो (वपुः) शरीर को (स्वतः) आत्मा से (पृथक् कृत्य) भिन्न अनुभव करके (सुखम्) स्वात्मोत्थ आनन्द को (आसते) अनुभव करते हैं (ते) वे (भेदज्ञाः) अन्तरात्मा [सन्ति] हैं ॥ ६७ ॥

भावार्थः—जो शरीर को ही आत्मा मान कर 'मैं दुखी हूँ ऐसा मानते हैं' वे ही बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) हैं किन्तु जो शरीर को आत्मा से भिन्न मानते हैं वे सदैव आत्मोत्थ चिदानन्दमय सुख का अनुभव करते हैं और अन्तरात्मा, भेदज्ञानी या सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। उनके अन्तरङ्ग में मृत्यु आदिक का भय नहीं होता ॥ ६७ ॥

कर्त्तव्यबुद्धि से दुःखों के सहन से लाभ

परायत्तेन दुःखानि, बाढं सोढानि संसृतौ ।
त्वयाद्य स्ववशः किञ्चित्, सहेच्छन्निर्जरां पराम् ॥६८॥

अन्वयार्थौ—(संसृतौ) संसार में (परायत्तेन) पराधीन (त्वया) तूने (बाढम्) बहुत ही (दुःखानि) दुःख (सोढानि) सहे (अद्य) इस समय (पराम्) उत्कृष्ट (निर्जराम्) निर्जरा को (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (स्ववशः) स्वाधीन (सन्) होता हुआ [अपि] भी (किञ्चित्) कुछ (सह) सहन कर ॥ ६८ ॥

भावार्थः—हे क्षपक ! इस संसार में अनादि काल से पराधीन होकर तूने बहुत दुःख सहे हैं। अब तू आसन्नमृत्यु है। पूर्व में कभी नहीं मिली ऐसी सल्लेखना कर रहा है। यदि इस समय परीषह तथा उपसर्ग जनित थोड़े भी दुःख को सहन कर लेगा तो तेरे उत्कृष्ट निर्जरा होगी। इसलिये स्वाधीन होकर इन परीषह वा उपसर्गों को किञ्चित्काल शान्त परिणाम से सहन कर।

समाधिशय्या पर प्रतिसमय असंख्यात कर्मों की निर्जरा

यावद् गृहीतसन्यासः, स्वं ध्यायन् संस्तरे वसेः ।
तावन्निहन्याः कर्माणि, प्रचुराणि क्षणे क्षणे ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थौ—(यावत्) जब तक (गृहीतसन्यासः) समाधिपरायण [च] तथा (स्वम्) आत्मा को (ध्यायन्) ध्याता हुआ

[त्वम्] तू (संस्तरे) समाधिशय्या पर (वसेः) आरूढ़ है (तावत्) तब तक (क्षणे क्षणे) प्रतिक्षण (प्रचुराणि) असंख्यात (कर्माणि) कर्मों की (निहन्याः) निर्जरा कर ॥ ६६ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! सन्यास लेकर आत्मध्यान करते हुये जब तक तुम समाधिशय्या पर आरूढ़ हो तब तक प्रति समय असंख्यात कर्मों की निर्जरा करो ॥ ६६ ॥

परीषहोपसर्ग सहन के विषय में स्मरणीय महापुरुष

पुरुप्रायान् बुभुक्षादि—परीषहजये स्मर ।
घोरोपसर्गसहने, शिवभूतिपुरःसरान् ॥१००॥

अन्वयार्थौ—(बुभुक्षादिपरीषहजये) भूख आदिक परीषह को जीतने के विषय में (पुरुप्रायान्) वृषभदेव आदिकों को [च] तथा (घोरोपसर्गसहने) घोर उपसर्ग सहन करने के विषय में (शिवभूति-पुरःसरान्) शिवभूति आदिक महामुनियों को (स्मर) स्मरण कर ॥१००॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! तू परीषह जीतने के विषय में वृषभ-देवादिक का तथा घोरोपसर्ग जीतते समय शिवभूति आदिक महामुनियों का स्मरण कर ॥ १०० ॥

अचेतनकृत उपसर्गसहन का दृष्टान्त

तृणपूलबृहत्पुञ्जे,, संक्षोभ्योपरि पातिते ।
वायुभिः शिवभूतिः स्वं, ध्यात्वाभूदाशु केवली ॥१०१॥

अन्वयार्थौ—(वायुभिः) आंधी के द्वारा (संक्षोभ्य) चलाय-मान करके (तृणपूलबृहत्पुञ्जे) घास की गंजी के (उपरि) ऊपर (पातिते) गिराये जाने पर (आशु) शीघ्र (स्वम्) अपने आत्मा को (ध्यात्वा) ध्यान कर (शिवभूतिः) शिवभूति महामुनि (आशु) शीघ्र (केवली) केवलज्ञानी (अभूत्) हुये ॥ १०१ ॥

भाषार्थः—शिवभूति महामुनि के ऊपर घास की गंजी हवा से उड़ कर आ पड़ी थी। उस समय उन्होंने निर्विकल्प

वृत्ति से शुद्ध आत्मा का ध्यान किया था। इसलिये वे तत्काल ही निर्वाण को प्राप्त हुये थे। यह अचेतनकृत उपसर्ग सहन करने का उदाहरण है॥१०१॥

मनुष्यकृतोपसर्गसहन का उदाहरण

न्यस्य भूषाधियाङ्गेषु, सन्तप्ता लोहशृंखलाः।
द्विट्पक्षैः कीलितपदाः, सिद्धाः ध्यानेन पांडवाः॥१०२॥

अन्वयार्थौ—(द्विट्पक्षैः) शत्रुपक्षीय कौरवों के भानजा आदि के द्वारा (भूषाधिया) तुम्हारे लिये ये स्वर्णाभूषण हैं ऐसा कथन करके (अङ्गेषु) अङ्गों में (सन्तप्ताः) जाज्वल्यमान (लोहशृंखलाः) लोहे की सांकलें (निक्षिप्य) पहना कर (कीलितपदाः) जमीन में लोहे की कीलों से जिनके पैर ठोक दिये हैं ऐसे (पाण्डवाः) पाण्डव (ध्यानेन) आत्मध्यानमात्र से (सिद्धाः) सिद्ध हुये॥ १०२॥

भावार्थः—हे क्षपक! पांचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे तब कौरवों के भानजे आदि ने पुरातन वैर वश 'तुम्हारे लिये ये स्वर्ण के आभूषण हैं' इस प्रकार, कषायपूर्वक दुष्टबुद्धि से लोहे की जाज्वल्यमान सांकलें पहना कर जमीन में लोहे के कीलों से उनके पैर ठोक दिये थे परन्तु उन्होंने इस घोर उपसर्ग पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और आत्मध्यान में ही लीन रहे। इस कारण, युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन मुक्ति को प्राप्त हुये तथा नकुल वा सहदेव सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुये। यह मनुष्यकृत घोरोपसर्ग सहन का उदाहरण है॥ १०२॥

तिर्यक्कृतोपसर्गसहन का दृष्टान्त

शिरीषसुकुमाराङ्गः, खाद्यमानोऽतिनिर्दयम्।
शृगाल्या सुकुमारोऽसून्, विससर्ज न सत्पथम्॥१०३॥

अन्वयार्थौ—(शिरीषसुकुमाराङ्गः) शिरीष के फूल के समान सुकोमल शरीर वाला (सुकुमारः) सुकुमार मुनि (शृगाल्या) शृगालिनी के द्वारा (अतिनिर्दयम्) अत्यन्तनिर्दयतापूर्वक (खाद्यमानः) खाया जाता हुआ (असून्) प्राणों को (विससर्ज) छोड़ता हुआ । किन्तु (सत्पथम्) शुद्धात्मध्यान को (न विससर्ज) नहीं छोड़ता हुआ ॥ १०३ ॥

भाषार्थः—सुकुमाल महामुनि अति सुकुमार थे । जब वे तप के हेतु वन गये तब वहां उनकी पूर्वभव की वैरिन मा के जीवने (जो उसी वन में शृगालिनी हुई थी) अतिशय निर्दयतापूर्वक उनका भक्षण किया, परन्तु सुकुमाल महामुनि आत्मध्यानरूपी सिद्धिमार्ग से तनिक भी विचलित नहीं हुये। यह तिर्यक्कृत घोरोपसर्ग सहन का उदाहरण है।

देवकृतोपसर्गसहन का उदाहरण

तीव्रदुःखैरतिक्रुद्धैः, भूतारब्धैरितस्ततः ।
भग्नेषु मुनिषु प्राणा-नौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक् ॥१०४॥

अन्वयार्थौ—(अतिक्रुद्धभूतारब्धैः) अत्यन्त क्रुद्ध अधम व्यंतरदेवों के द्वारा प्रदत्त (तीव्रदुःखैः) असह्य बाधाओं से (मुनिषु) बहुत से मुनियों के (इतस्ततः) इधर उधर (भग्नेषु) भाग जाने पर [अपि] भी (विद्युच्चरः) विद्युच्चर महामुनि (स्वयुक्) आत्मलीन (सन्) रहते हुये (प्राणान्) प्राणों को (औज्झत्) छोड़ते हुए ॥ १०४ ॥

भाषार्थः—अतिक्रुद्ध अधम व्यन्तरों के द्वारा प्रारब्ध अत्यन्त असह्य और भयङ्कर बाधाओं से इतर मुनिजनों के इधर उधर चले जाने पर भी विद्युच्चर महामुनि इस घोर उपसर्ग से विचलित नहीं हुये, किन्तु आत्मलीन रहकर मुक्त हुये । यह देवकृत उपसर्ग सहन का उदाहरण है ॥ १०४ ॥

चतुर्विध उपसर्ग सहन के दृष्टान्त का उपसंहार

अचेन्नृतिर्यग्देवो—पसृष्टासंक्लिष्ट—मानसाः ।
सुसत्त्वा बहवोऽन्ये ऽपि, किल स्वार्थमसाधयन् ॥१०५॥

अन्वयार्थौ—(किल) जिनागम में कहा गया है कि (अन्ये) भिन्न (अपि) भी (बहवः) बहुत से (सुसत्त्वाः) महापुरुष (अचेन्नृतिर्यग्देवोपसृष्टासंक्लिष्टमानसाः) अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च और देवों द्वारा उपसर्ग को प्राप्त होकर भी मन में संक्लेश को प्राप्त नहीं होते हुये (स्वार्थम्) अपने इष्ट मोक्ष पुरुषार्थ को (असाधयन्) सिद्ध कर चुके ॥ १०५ ॥

भाषार्थः—अचेतन, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा देव कृत घोरोपसर्गसहन करने का एक एक दृष्टान्त बताया जा चुका है। इनके सिवाय और भी अन्य महामुनियों ने चारों ही प्रकार के उपसर्गों में से किसी एक के आने पर उसको बिना संक्लेश के सहन किया है तथा मोक्ष पाया है ॥ १०५ ॥

क्षपक के लिये शरीर से निस्पृहता और मुक्तिसाधन का उपदेश

तत्त्वमप्यङ्ग ! सङ्गत्य, निःसङ्गेन निजात्मना ।
त्यजाङ्गमन्यथा भूरि—भवक्लेशैर्ग्लपिष्यसे ॥१०६॥

अन्वयार्थौ—(अङ्ग) हे क्षपक (तत्) इसलिये (त्वम्) तूं (निःसङ्गेन) कर्म से व्यतिरिक्त चिद्रूप (निजात्मना) अपने आत्मा से (सङ्गत्य) संयुक्त होकर (अङ्गम्) शरीर को (त्यज) छोड़ (अन्यथा) सङ्क्लेशावेश से शरीर का परित्याग करने पर (भूरिभवक्लेशैः) सांसारिक विशाल दुःखों से (ग्लपिष्यसे) अपने आत्मा को आकुलित करेगा ॥ १०६ ॥

भाषार्थः—भो क्षपक ! तूं भी उन शिवभूति आदिक मुमुक्षुओं के समान अपने शुद्ध आत्मा में उपयुक्त होकर परीषह

और उपसर्गों को जीत कर शरीर का परित्याग कर मोक्ष का साधन कर। यदि इस समय तूने अपने परिणामों में संक्लेश को स्थान दिया तो तुझे संसार के प्रचुर दुःखों से दुखी होना पड़ेगा।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र आराधना का उपदेश

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः, प्रमदवपुरुपा-देय इत्याञ्जसी दृक्,
तस्यैव स्वानुभूत्या, पृथगनुभवनं, विग्रहादेश्च सम्वित्।
तत्रैवात्यन्ततृप्त्या, मनसि लयमिते ऽवस्थितिः स्वस्य चर्या,
स्वात्मानं भेदरत्न-त्रयपर परमं, तन्मयं विद्धि शुद्धम् ॥१०७॥

अन्वयार्थौ—(भेदरत्नत्रयपर) हे भेदरत्नत्रय में तत्पर आराधकराज (प्रमदवपुः) आनन्दमय (शुद्धः) द्रव्य और भाव कर्मों से रहित (स्वात्मा) केवल निज आत्मा (एव) ही (उपादेयः) उपादेय [विद्यते] है (इति) इस प्रकार (श्रद्धा) शुद्धात्मरूप अभिनिवेश (आञ्जसी) निश्चय (दृक्) सम्यग्दर्शन [कथ्यते] कहलाता है (स्वानुभूत्या) स्वानुभूति के द्वारा (विग्रहादेः) त्रियोग से (तस्य) उस शुद्ध स्वात्मा का (पृथक्) पृथक् (अनुभवनम्) चिन्तवन करना (आञ्जसी संवित्) परमार्थ सम्यग्ज्ञान [प्रोच्यते] कहलाता है (च) तथा उस शुद्ध निजस्वरूप में (अत्यन्ततृप्त्या) अतिशय वैतृष्ण्यभाव से (मनसि) मन के (लयम्) तन्मयीभाव को (इते) प्राप्त होने पर (स्वस्य) आत्मा का (अवस्थितिः) अवस्थान करना (आञ्जसी) निश्चय (चर्या) सम्यक्चारित्र [निगद्यते] कहलाता है। अतएव तू (परमम्) अतिशय (शुद्धम्) शुद्ध (स्वात्मानम्) अपने आत्मा को (तन्मयम्) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय (विद्धि) समझ ॥ १०७ ॥

भावार्थः—हे क्षपकराज! आनन्दमय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार परमार्थ श्रद्धा निश्चयसम्यक्त्व है। शुद्ध आत्मा का त्रियोग से पृथक् चिन्तवन करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मा का आत्मा में अतिशय तृप्तिपूर्वक लीन होना

निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसलिये तूं अपने आत्मा को निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय समझ ॥ १०७ ॥

क्षपक के हेतु तप-आराधना का उपदेश

मुहुरिच्छामणुशोऽपि, प्रणिहत्य श्रुतपरः परद्रव्ये।
स्वात्मनि यदि निर्विघ्नं, प्रतपसि तपसि ध्रुवं तपसि ॥१०८॥

अन्वयार्थौ—हे क्षपक (मुहुः) वार वार (श्रुतपरः) श्रुतज्ञान की भावना में तत्पर होता हुआ [त्वम्] तूं (परद्रव्ये) परद्रव्य में (अणुशः) अणु बरावर थोड़ी (अपि) भी (इच्छाम्) इच्छा को (प्रणिहत्य) नाश करके (यदि) यदि (निर्विघ्नम्) निर्विघ्न रूप से (स्वात्मनि) अपने आत्मा में (प्रतपसि) देदीप्यमान होगा [तर्हि] तो (ध्रुवम्) अवश्य ही (तपसि) तप आराधना के विषय में (तपसि) स्फुरायमान होगा ॥ १०८ ॥

भाषार्थः—हे क्षपक ! तूं श्रुतज्ञान की भावना में तत्पर होकर परद्रव्यसम्बन्धी इच्छाओं का पूर्ण परित्याग कर अपने आत्मा में निर्विघ्नरूप से देदीप्यमान होगा, तो तूं निश्चय से तप आराधना में तत्पर है ॥ १०८ ॥

निर्यापकाचार्य का क्षपक को आशीर्वाद

नैराश्यारब्धनैःसङ्ग्य—सिद्धसाम्यपरिग्रहः।
निरुपाधिसमाधिस्थः, पिबानन्दसुधारसम् ॥१०९॥

अन्वयार्थौ—भो क्षपक ! (नैराश्यारब्धनैःसंग्यसिद्धसाम्यपरिग्रहः) परद्रव्य की आशा के परित्याग से आरब्ध बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग परिग्रह के त्याग से सिद्ध परमेष्ठी के समान [च] और (निरुपाधिसमाधिस्थः) ध्यान, ध्याता और ध्येय के विकल्प से रहित निर्विकल्प समाधि में लीन होता हुआ [त्वम्] तूं (आनन्दसुधारसम्) आनन्दरूपी सुधारस को (पिब) पी ॥ १०९ ॥

भाषार्थः—हे क्षपकराज अब तुम जीवन और धनादिक की आकांक्षाओं के त्याग से प्रारब्ध अपरिग्रहपने से सिद्ध के समान और ध्यान, ध्याता तथा ध्येय के विकल्प से रहित निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर चिदानन्दमय सुधारस के पानकर्ता होओ।

समाधिमरण का फल

संलिख्येति वपुः कषायवदलङ्कर्मीणनिर्यापक—
न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयँल्लिङ्गं तदीयं परः।
सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः, प्राणान् शिवाशाधर—
स्त्यक्त्वा पञ्चनमस्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मान्तरे ॥

अन्वयार्थौ—(शिवाशाधरः) मोक्षाभिलाषी (श्रमणः) क्षपक मुनि (अलङ्कर्मीणनिर्यापकन्यस्तात्मा) निश्चयनय से संसारसमुद्र से पार उतारने में समर्थ और शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाम में संमुख अपने आत्मा के प्रति अर्पण किया है अपने आत्मा को जिसने अर्थात् स्वयं निर्यापकाचार्यरूप तथा व्यवहारनय से—संसारसमुद्र से पार उतारने में समर्थ निर्यापकाचार्य के लिये सोंप दिया है अपना आत्मा जिसने ऐसा [सन्] होता हुआ (इति) पूर्वोक्त प्रकार से (कषायवत्) कषाय के समान (वपुः) शरीर को (संलिख्य) कृश करके (तत्) उस पूर्वगृहीत औत्सर्गिक (लिङ्गम्) मुनिलिङ्ग को (कलयन्) धारण करता हुआ (सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः) निश्चयरत्नत्रय के अभ्यास से चरमगुणस्थानवर्ती योगी होता हुआ (प्राणान्) प्राणों को (त्यक्त्वा) छोड़ कर (शिवी) मुक्त (स्यात्) होता है। यह उत्कृष्ट सल्लेखना पक्ष का व्याख्यान है।

मध्यमाराधनापक्ष में—(सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः) समीचीन संवर और निर्जरा में समर्थ रत्नत्रय की भावना में उपयुक्त होता हुआ (शिवी) इन्द्रादिकपद के अभ्युदयों का अधिकारी (स्यात्) होता है।

और जघन्याराधनापक्ष में (पञ्चनमस्क्रियास्मृति) पञ्च नमस्कार मन्त्र के उच्चारण वा स्मरण पूर्वक (प्राणान्) प्राणों को (त्यक्त्वा)

छोड़ कर (अष्टजन्मान्तरे) आठ भवों में (शिवी) मुक्त (स्यात्) होता है। यह कथन संयतों की अपेक्षा से है। श्रावक के पक्ष में—

(परः) श्रावक (तदीयम्) मुनिसम्बन्धी (लिङ्गम्) लिङ्ग को (कलयन्) धारण करता हुआ [समीचीन रत्नत्रय की भावना में परिणत होता हुआ पञ्चनमस्कारपूर्वक प्राणों को छोड़ कर] (शिवी) यथायोग्य अभ्युदयों का भोगकर योग्यकालमें मुक्त (स्यात्) होता है।

भावार्थः—क्षपक मुनि निश्चयनय से स्वयं निर्यापकाचार्य होकर और व्यवहारनय से निर्यापकाचार्य के लिये आत्मसमर्पण कर कषाय के समान शरीर को कृश करके निश्चय रत्नत्रय के अभ्यास से चरमगुणस्थानवर्ती योगी होकर प्राणों का परित्याग कर मुक्त होता है।

मध्यमाराधनापक्ष में—समीचीन संवर और निर्जरा में समर्थ रत्नत्रय की भावना में उपयुक्त होकर इन्द्रादिक के अभ्युदयों का अधिकारी होता है।

जघन्याराधना पक्ष में—पंच नमस्कार मत्र के उच्चारण वा स्मरण पूर्वक प्राणों का परित्याग कर आठ भव के भीतर मुक्त होता है।

और श्रावक मुनिलिङ्ग धारण कर समीचीन रत्नत्रय की भावना में तत्पर होता हुआ पंचनमस्कारपूर्वक प्राणपरित्याग कर यथायोग्य अभ्युदयों को भोग कर योग्यकाल में मुक्त होता है।

इत्याशाधरविरचिते सागारधर्मामृते उत्तरभागे
विजयाटीकायाम् अष्टमोऽध्यायः समाप्तः।

सागारधर्मामृत की निबन्धमाला

विविध मतों की अपेक्षा श्रावक के अष्टमूल गुण

मद्य-मांस-मधु-त्यागैः, सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टावेते गृहस्थाना-मुक्ताः मूलगुणाः श्रुतौ ।।

श्री सोमदेवसूरि ने तीन मकार और पञ्च उदुम्बर फलों के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है ।

मद्य मांस मधुत्यागैः, सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहु-गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने तीन मकार और पञ्च पापों के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है ।

हिंसासत्यस्तेया-दब्रह्म परिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ।।

श्री जिनसेनाचार्य ने मद्य, मांस, जुआ और पञ्च पापों के त्याग को अष्टमलगुण कहा है ।

द्विज शब्द का अर्थ

जिनागम में जन्म दो प्रकार से माना गया है। पहला माता पिता से और दूसरा यज्ञोपवीत संस्कार से । इसलिये जो माता पितासे पैदा होकर आयु और ज्ञान के सम्हलने पर विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण करता है उसे द्विज कहते हैं । इस प्रकार यज्ञोपवीतधारण करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज कहे जाते हैं ।

अजैन से जैन बनाने के संस्कार

अवतार-क्रिया--गुरु पिता है, तत्त्वज्ञान सुसंस्कृत गर्भ है, उसमें धर्मरूपी जन्म का ग्रहण अवतार क्रिया है।

वृत्तलाभ-क्रिया--गुरु के उपदेश से मिथ्यात्व के छूटने पर उसी समय गुरु के चरणों में नत होकर अष्टमूलगुण आदि व्रतों का धारण वृत्तलाभ-क्रिया कहलाती है।

स्थानलाभ-क्रिया--वृत्तलाभ के पश्चात् उपवास-पूर्वक जिनपूजन की तैयारी स्थानलाभ-क्रिया कहलाती है।

गणग्रह-क्रिया--स्थानलाभ-क्रिया के पश्चात् अपने गृह में स्थापित देवों से कहना कि आज तक अज्ञान से मैंने आपकी पूजा की है, आज से मेरे आपकी पूजा का परित्याग है और उन मूर्तियों को अपने घर से भिन्न किसी अन्य स्थान में रख आना इस प्रकार सुदेव से इतर देवों की आराधना का परित्याग गणग्रह-क्रिया कहलाती है।

पुण्ययज्ञ-क्रिया--सहपाठियों के साथ चौदह पूर्वसम्बन्धी शास्त्रों को सुनकर पुण्योपार्जन करना पुण्ययज्ञ-क्रिया कहलाती है।

पूजाराध्य क्रिया--द्वादशाङ्ग सिद्धान्त शास्त्रों का सारांश जिन शास्त्रों में है उन्हें अर्थसंग्रह कहते हैं। उनका पूजन और अध्ययन पूजाराध्यक्रिया कहलाती है।

दृढ़चर्या-क्रिया--अङ्ग और पूर्व का सारांश बताने वाले शास्त्रों को पढ़कर दृढ़ता के लिये अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना दृढ़चर्या-क्रिया कहलाती है।

उपयोगिता-क्रिया--पर्व के दिन उपवास करना और जब तक उपवास है तब तक प्रतिमा-योग धारण करना उपयोगिता क्रिया कहलाती है।

श्रावक की दिनचर्या

गृहस्थ ब्राह्म मुहूर्त में उठकर पंच नमस्कार मंत्र का जाप करे तथा इस बात का विचार करे कि मैं कौन हूँ ? मेरा धर्म क्या है ? और मैं किस धर्म का पालन कर रहा हूँ ? गृहस्थ यह भी विचार करे कि इस भयङ्कर संसार में घूमते हुए मैंने यह श्रावक का धर्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है, इसलिये इसे बड़े उत्साह के साथ पालन करना चाहिये। ऐसा विचार कर वह शय्या से उठे और स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त होकर अपने घर के चैत्यालय में जिनेन्द्र भगवान को अष्टद्रव्य से पूजा करे तथा विधि पूर्वक सामायिक करे।

सामायिक के बाद शान्तिलाभ का चिन्तवन करे और नियमानुसार आखड़ी ग्रहण करे। इष्ट वस्तु की प्रार्थना करे और फिर घर जाने के लिये भगवान को नमस्कार करे। तदनन्तर शक्ति के अनुसार पूजा की सामग्री लेकर ईर्यासमिति से नगर के जिनालय में जावे। मार्ग में आकाश में चमकते हुये सूर्य को देखकर इस प्रकार विचार करे कि जिस प्रकार यह सूर्य चमक रहा है, उसी प्रकार अरिहन्त भगवान की आत्मा में केवलज्ञान रूपी ज्योति चमकती है। मन्दिर की ध्वजा तथा अन्य विभूतियां देखकर प्रसन्नता से ३ बार निःसही कहता हुआ जिन-मन्दिर में प्रवेश करे।

वहां जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर जिनस्तुति पढ़ता हुआ तीन बार प्रदक्षिणा देकर अष्ट द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे। मंदिर को समवशरण, अर्हंत भगवान की प्रतिमा को साक्षात् अरिहन्त और मन्दिर में बैठे हुए सहधर्मी भाइयों को बारह सभा में बैठने वाले सभासद समझकर विधिपूर्वक स्वाध्याय करे। यदि कोई मुनि वगैरह हों तो उन्हें नमस्कार कर

अपनी ली हुई प्रतिज्ञाएं सुनावे। विकथा, कलह, निद्रा और चार प्रकार के आहार का त्याग कर हुआ धर्म पुरुषार्थ का अर्जन करे।

तदनन्तर दुकान आदि योग्य स्थान पर जाकर वहां काम करने वाले लोगों के कार्य को देखकर उद्योग में हानि हो तो विषाद नहीं करे और लाभ हो तो हर्ष नहीं मनावें। हानि और लाभ समझकर मध्यस्थ रहे। इसके पश्चात् जो कुछ भी लाभ हुआ हो उसी से सन्तुष्ट होकर भोजन के लिये घर जावे।

वहां जैसा कुछ दोष हुआ हो उसके अनुसार स्नान कर घर के चैत्यालय में अभिषेक पूर्वक भगवान की पूजा करे फिर शक्ति और भक्ति के अनुसार पात्रों के लिये दान देकर स्वयं भोजन करे। भोजन के बाद कुछ विश्राम कर गुरुजनों अथवा साधर्मियों के साथ तत्त्वचर्चा करता हुआ जिनागम के तत्त्वों का विचार करे।

तत्पश्चात् सायंकाल के समय देवपूजा आदि आवश्यक कार्य कर योग्य समय में सोवे और यथाशक्ति ब्रह्मचर्य की रक्षा करे। यदि बीच में निद्रा टूट जावे तो ऐसा विचार करे कि मैं मोहके वश हूँ, शरीर जुदा है और मेरी आत्मा जुदी है। वे पुरुष धन्य हैं। जिन्होंने इस भेदज्ञान को प्राप्त करने के लिये बड़े बड़े राज्य छोड़ दिये। मैं स्त्रीरूपी मोह नामक राजा की सेना के अधीन हूँ। मेरी आयु क्षण क्षण में क्षीण हो रही है फिर भी मैं सावधान नहीं होता यह बड़ा आश्चर्य है।

मुझे धर्म क्या मिला है, इच्छानुसार निधि मिली है। इसे पाकर मैं दरिद्र भी रहूँ तो हानि नहीं है। इत्यादि चिन्तवन करता हुआ समता प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

सल्लेखना या समाधिमरण

जिनका प्रतिकार नहीं किया जासके ऐसे बुढ़ापा, रोग, दुर्भिक्ष तथा उपसर्गआदि के उपस्थित होने पर धर्मधारण के हेतु काय और कषाय को कृश करते हुए शरीर का त्याग करना सल्लेखना कहलाती है। इसका दूसरा नाम समाधिमरण भी है।

सल्लेखना को श्रावक या मुनि धारण करते हैं। इसी से वे साधक (क्षपक) कहलाते हैं। यदि शरीर में मुनिव्रत धारण करने की योग्यता न हो तो गृहस्थी में रहकर ही सल्लेखना धारण करना चाहिए।

जब तक शरीर स्वस्थ और नीरोग रहे तब तक उसे धर्मध्यान में लगाना चाहिये। अच्छा अच्छा भोजन दिये जाने पर भी यदि वह खराबी को प्राप्त होता है, तो शरीरको सल्लेखना में लगा देना चाहिए।

कषाय के आवेश से विषभक्षण, श्वासनिरोध, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, लंघन वगैरह से जहां प्राण गमाये जाते हैं वहां पर ही अपघात का दोष लगता है। परन्तु सल्लेखना में न तो कषाय का आवेश होता है और न विषभक्षण आदि का प्रयोग होता है। इसलिए सल्लेखना में अपघात का दोष नहीं लगता।

सल्लेखना धारी का कर्तव्य है कि वह सल्लेखना के हेतु कल्याणकस्थान, तीर्थस्थान, जिनमन्दिर, धर्मशाला आदि में चला जावे या अपने मकान के एकान्त स्थान में चला जावे।

सल्लेखना धारण करने वाले गृहस्थ को किसी योग्य निर्यापकाचार्य के पास जाकर सबसे पहले अपने जीवन में हुए अपराधों की निश्छल भाव से आलोचना करना चाहिए। पिछले

पापों की आलोचना के बिना मनुष्य का हृदय निःशल्य नहीं होता और जब तक हृदय निःशल्य नहीं होता तब तक सल्लेखना की बात ही व्यर्थ होती है।

क्षपक अपने आपको निर्यापकाचार्य के सुपुर्द कर देता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की योग्यता देखकर निर्यापकाचार्य जैसा आचरण कराते हैं, वैसा आचरण करता है। निर्यापकाचार्य बहुत ही बुद्धिमान और दूरदर्शी होता है। वह साधक की योग्यता देखकर क्रम से आहार पानी का त्याग कराते हुए अन्त समय तक समस्त पर पदार्थों का त्याग करा देता है।

जीवन पर्यन्त व्रत धारण करने के बाद यदि अन्तिम समय परिणामों में निर्मलता नहीं आई और अन्य मोही जीवों के समान रोते चीखते हुए प्राण छोड़े तो यह व्रत धारण करना व्यर्थ होता है। समाधिमरण मकान के ऊपर रखे हुए कलशा के समान है। जिस प्रकार कलशा के बिना मकान पूर्ण नहीं कहलाता उसी प्रकार समाधिमरण के बिना मनुष्य का व्रतधारण करना पूर्ण नहीं कहलाता।

व्रती मनुष्य को हमेशा इस बात की चिन्ता रखना चाहिए कि हमारा अन्तिम जीवन समाधिपूर्वक ही व्यतीत हो। समाधिमरण की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम कषायों को कृश करना आवश्यक है। जिसने शरीर को कृश करने के साथ साथ कषायों को भी कृश कर लिया उसी की सल्लेखना सार्थक होती है।

जीविताशंसा,, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखना के अतिचार हैं। साधक को इन अतिचारों से अपने सल्लेखना व्रत की रक्षा करना चाहिए।

जिस जीव को विधिपूर्वक सल्लेखना-मरण प्राप्त होजाता है वह संसार में सात आठ भव से अधिक नहीं रुलता और तब तक स्वर्ग या मनुष्यगति में ही जन्म लेता है।

हिंसा का वर्णन

प्राणघात को हिंसा कहते हैं। हिंसा दो प्रकार की होती है ? द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपने व दूसरों के द्रव्य प्राणों का विघात करना द्रव्यहिंसा कहलाती है। तथा रागद्वेषादिक भावों की उत्पत्ति को भावहिंसा कहते हैं।

जो व्यक्ति प्रमादरहित प्रवृत्ति करता है। उससे जीवघात होने पर भी वह हिंसा का भागी नहीं होता। क्योंकि उसके हिंसा करने की भावना नहीं होती।

रागद्वेष से प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति होने पर जीव मरे या नहीं मरे, हिंसा होती ही है। बहुधा प्रमाद के होने पर प्राणव्यपरोपण बच नहीं सकता।

कषायवान आत्मा सबसे पहले अपने ज्ञान, दर्शन गुण का विघात करता है, फिर जीवघात होवे या नहीं होवे।

हिंसा के विषय में बड़ी विचित्रताएं हैं। कोई हिंसा किए बिना ही हिंसा के फल का भागी होता है और कोई हिंसा को करके भी हिंसा के फल का भागी नहीं होता। किसी को थोड़ी हिंसा से अधिक फल भोगना पड़ता है और किसी को अधिक हिंसा करने पर भी थोड़ा फल भोगना पड़ता है।

अनेकों द्वारा की गई हिंसा एक को थोड़ा फल देती है और किसी को अधिक। कभी हिंसा का फल हिंसा किये बिना पहले ही भोगना पड़ता है और कभी हिंसा करने पर। कभी हिंसा की भावना होने पर हिंसा हुए बिना ही हिंसा का फल भोगना पड़ता है और किसी को हिंसा करने पर हिंसा का फल भोगना पड़ता है।

हिंस्य, हिंसक हिंसा और हिंसाके फलको भली भांति जानकर हिंसा का परित्याग करना चाहिए। जिसकी हिंसा की जाती है वह हिंस्य है। हिंसा करने वाले को हिंसक कहते हैं। प्राणों के विघात को हिंसा कहते हैं। और पापबंध हिंसा का फल है।

हिंसा से बचने के लिए पांच उदुम्बर और तीन मकारों का त्याग करना चाहिए। तथा जो स्थावर हिंसा को नहीं छोड़ सकते उन्हें कम से कम त्रसहिंसा का परित्याग करना चाहिए।

किन्हीं का यह भी सिद्धान्त है कि अतिथि-सत्कार और बलि के लिए हिंसा करना अनुचित नहीं। परन्तु जैन सिद्धान्त की दृष्टि से किसी की हिंसा करना उचित नहीं है। इसलिए उनकी मान्यता उचित नहीं।

किन्हीं का यह भी सिद्धान्त है कि हिंसक दुःखी और सुखी का विघात करने से जनता में शांति और दुख का विघात होता है परन्तु ऐसा मानने से क्रमशः अतिप्रसङ्ग दोष, नरक की प्राप्ति और निजसुख का विघात होता है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त में अहिंसा का जो सूक्ष्म और विविध वर्णन किया गया है वह अन्य सिद्धान्तों में उपलब्ध नहीं।

सम्यग्दर्शन

जिस पशु के सम्यग्दर्शन हुआ है, वह पशु भी मनुष्य के समान है। वास्तव में सम्यग्दर्शन एक ऐसा अनोखा प्रकाश है कि जिसके द्वारा संसार के प्रत्येक पदार्थ का ठीक ठीक प्रत्यय होने लगता है।

सम्यग्दर्शन के अभाव में जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। वह शरीर आदि पर वस्तुओं को अपना मानकर दिन रात उन्हें इकट्ठा करने में लगा रहता है।

मिथ्यात्व के प्रभाव से वह यह भूल जाता है कि आत्मा ज्ञानपुञ्ज, अविनाशी और अनन्तसुख का भण्डार है। तथा शरीर इससे विपरीत ज्ञानरहित, विनाशी और दुख का भंडार है। जब तक यह जीव शरीर और आत्मा को एक मानता है तब तक वह बहिरात्मा कहलाता है।

१—निकटभव्यता (आसन्न भव्यता) २—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का उपशमादि, ३—संज्ञीपना, ४—परिणामों की विशुद्धता और ५—सद्गुरु का उपदेश आदि का निमित्त मिलने पर यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन के होते ही यह जीव शरीर और आत्मा को जुदा जुदा समझने लगता है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और कुधर्म से इसकी श्रद्धा हट जाती है। अब यह सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु, सत् शास्त्र और अहिंसामय धर्म का ही श्रद्धान करता है। इनकी ही भक्ति और वंदना आदि करता है।

यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार विशिष्ट गुण सम्यग्दर्शन के होते ही प्रकट हो जाते हैं।

कषाय के असंख्यात लोकप्रमाण स्थानों में मन का स्वभाव से ही शिथिल हो जाना प्रशम कहलाता है। संसार के दुखों से भयभीत होना संवेग कहलाता है। दुखी जीवों के दुःख को देखकर हृदय में उनका दुःख दूर करने का भाव होना अनुकम्पा कहलाती है। व्रतों के फल तथा परलोक में विश्वास होना आस्तिक्य कहलाता है। इन गुणों से आत्मा में तत्काल सच्चे सुख की अनुभूति होने लगती है।

कर्म-निमित्त की उपेक्षा सम्यग्दर्शन के तीन भेद होते हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक। मिथ्यात्व आदि सात या पाँच प्रकृतियों के उपशम से जो श्रद्धा गुण प्रकट होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। तथा मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघाती प्रकृति का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इनमें क्षायिक को छोड़कर शेष दो सम्यग्दर्शन इस जीव को अनेकों बार होकर छूट जाते हैं। परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चार भव से अधिक संसार में भ्रमण नहीं करता।

सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अङ्ग हैं।

जिस तरह हाथ पैर आदि आठ अङ्गों में से किसी एक अङ्ग का अभाव हो जाने से शरीर अपूर्ण रहता है, उसीप्रकार निःशंकित आदि आठ अङ्गों में यदि एक का अभाव होता है तो सम्यग्दर्शन अपूर्ण हो जाता है और उससे पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होती।

जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता और न वह फल, फूल दे सकता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना धर्मरूपी वृक्ष नहीं ठहर सकता और न मोक्षरूपी फल ही मिल सकता है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही इस जीव का मिथ्याज्ञान सम्यक्ज्ञान और मिथ्याचरित्र सम्यक्चारित्र के रूप में परिणत हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने के पहले नरक या तिर्यञ्च गति का बन्ध कर लेने पर प्राणी प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता और तिर्यञ्चों में भोगभूमि का ही तिर्यञ्च होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का प्रभाव जानकर उसे प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

अष्ट मूलगुण

जिस प्रकार किसी बड़े मकान का आधार उसकी नींव और किसी वृक्ष का आधार उसकी जड़ होती है, उसी प्रकार गृहस्थ-धर्म का आधार मूलगुण हैं। मूलगुण उन मुख्य गुणों को कहते हैं, जिनके बिना गृहस्थधर्म का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता।

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने मूलगुणों के नाम जुदे जुदे प्रकार से निरूपण किये हैं। परन्तु मूलगुण आठ होते हैं, इस विषय में सबका एक मत है।

रात्रि भोजन

पंडितप्रवर आशाधर जी ने कहा है कि उत्तम पुरुष दिन में एकबार, मध्यम पुरुष दिन में दो बार और जघन्य पुरुष रात्रि और दिन में अनेकों बार भोजन करते हैं।

जघन्य मानव यह भूल जाते हैं कि भोजन का उद्देश्य शरीर की स्थिति रखना है, न कि चाहे जब चाहे जो खाकर जिह्वा की लम्पटता को बढ़ाना। ऐसे मनुष्य पशुओं के समान रात दिन का विचार न रख कर जब जो चीज सामने आती है तब ही खाने लगते हैं।

सूर्यास्त के दो घड़ी पहले से लेकर सूर्योदय के दो घड़ी बाद तक अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के आहारों का त्याग करना रात्रिभोजन त्यागव्रत कहलाता है।

रात्रि के समय भोजन करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है तथा हानिप्रद वस्तुओं के सेवन में आ जाने से स्वास्थ्य खराब हो जाता है। जैसे मक्खी के बाल भोजन में पहुँचने से स्वर-भङ्ग हो जाता है और मकड़ी के पहुँचने से कुष्टरोग हो जाता है।

भोजन के पश्चात् तीन घंटे बाद शयन करना चाहिये। परन्तु रात्रि के समय भोजन करने वाले को इतना अवकाश नहीं मिल पाता। जिसका फल यह होता है कि उसकी पाचनशक्ति धीरे धीरे कम होने लगती है। गृहस्थ को चाहिये कि वह हमेशा आलोकितपान भोजन करे, अर्थात् देख शोध कर भोजन ग्रहण करे।

रात्रि के समय भोजन का देखना शोधना पूर्ण रीति से सम्भव नहीं। प्रथम तो बिजली आदि बड़े बड़े दीपक जन-

साधारण को सुलभ नहीं। और द्वितीय उनके प्रकाश में एक भिन्न प्रकार का रँग-विशेष होने से सूक्ष्म जन्तुओं का अच्छी तरह निरीक्षण नहीं हो पाता। रात्रि-भोजन की महत्ता बतलाते हुये 'पंडित आशाधर' जी ने वनमाला और लक्ष्मण के जीवन की एक घटना लिखी है वह इस प्रकार है।

कैकेयी के कथनानुसार दशरथ की आज्ञा से जब राम, लक्ष्मण और सीता के साथ वन को गये तब कूर्च-नगर के अधिपति राजा महीधर की कन्या 'वनमाला' के साथ लक्ष्मण का विवाह हुआ। विवाह के बाद ही लक्ष्मण रामचन्द्र जी के साथ वन को प्रस्थान करने लगे और वनमाला को समझाने लगे कि मैं रामचन्द्र जी को निश्चिंत स्थान पर पहुँचा कर वापिस आता हूँ। परन्तु जब वह सन्तुष्ट नहीं हुई तब लक्ष्मण जी ने उसे विश्वास दिलाने के लिये गोहत्या, स्त्रीवध आदि के पापों से लिप्त होने की अनेक शपथें खाईं। परन्तु वनमाला ने लक्ष्मण से यह शपथ कराई कि राम को इष्ट स्थान में पहुँचा कर यदि मैं वापिस नहीं आऊँ, तो मैं रात्रि-भोजन के पाप से लिप्त होऊँ। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी रात्रिभोजन बड़ा भारी पाप समझा जाता था। इसलिये रात्रिभोजन का त्याग अवश्य करना चाहिये।

रात्रि के समय में पात्रदानादि कोई भी उत्तम-कार्य नहीं किया जाता तब अपना भला चाहने वाला ऐसा कौन मनुष्य है जो उस समय भोजनपान ग्रहण करेगा।

जो मनुष्य रात्रि की तरह दिन के आदि अन्त मुहूर्त में भी भोजन ग्रहण नहीं करता वह अपने जीवन का अर्धभाग उपवास के द्वारा व्यतीत करता है। उसके फल का क्या वर्णन किया जाय।

जबकि एक प्रहर-मात्र रात्रि-भोजन त्यागव्रत धारण करने के प्रभाव से चित्रकूट नगर की चांडाली सागरदत्त सेठ के यहाँ नागश्री नामक पुत्री हुई थी तब जो जीवन-पर्यन्त रात्रि-भोजन त्यागव्रत का पालन करते हैं उनके पुण्य का क्या ठिकाना है। यह जानकर रात्रि में सब प्रकार के भोजन का त्याग करना चाहिये।

भोजन की अपेक्षा मनुष्य के भेद

उत्तम मनुष्य दिन में एक बार भोजन करते हैं, मध्यम मनुष्य दिन में दो बार और जघन्य मनुष्य पशुओं की तरह रात दिन खाते रहते हैं। जिस समय भरतक्षेत्र में उत्तम भोगभूमि की रचना थी उस समय यहाँ के मनुष्य तीन दिन बाद बेर के बराबर आहार लेते थे। जब मध्यम भोगभूमि की रचना हुई तब दो दिन बाद आँवले के बराबर आहार लेने लगे। जब जघन्य भोगभूमि आई तब एक दिन बाद बहेड़े के बराबर भोजन होने लगा।

जब चतुर्थकाल आया तब उसके प्रारम्भ में प्रतिदिन एक बार आहार करने लगे। जब चतुर्थकाल का अन्त आया तब दिन में दो बार आहार होने लगा। इस समय के मनुष्यों के आहार का परिणाम ३२ ग्रास का होता था। एक हजार चाँवल का एक ग्रास होता है।

पंचम काल के मनुष्यों में आहार का कुछ नियम नहीं रहा। जिस प्रकार पशुओं को रात दिन में जब कभी घास डालो तभी वे खाने लगते हैं, उसी प्रकार पंचम-काल के मनुष्य रात दिन में जब भी भोजन पाते हैं; खाने लगते हैं। ऐसे मनुष्य जघन्य कोटि के मनुष्य कहलाते हैं। इन्हें पण्डित आशाधर जी ने पशुओं की उपमा दी है।

ब्लैक मार्केट (काला बाजार) से हानि

राजकीय नियमों का भंग कर कम मूल्य की वस्तु अनिश्चित या ज्यादह मूल्य में बेचना ब्लैक मार्केट (चोर बाजार) कहलाता है।

जिनागम में सागारधर्मामृत प्रथम अध्याय श्लोक ११ में श्रावक को न्यायपूर्वक आजीविका करने का विधान किया गया है। यदि वह ब्लैक मार्केट करेगा तो जिनवाणी की आज्ञा के उल्लंघन का दोष होगा।

सागारधर्मामृत अध्याय ३ श्लोक ८ में बताया है कि जो अन्याय से आजीविका करता है वह प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकता और प्रतिमा को धारण किये बिना संसार से छुटकारा नहीं पा सकता। इसलिए ब्लैक मार्केट करने वाला अपना मोक्षमार्ग स्वयं बन्द कर लेता है।

ब्लैक मार्केट करने वाले को चोरी का पाप लगता है जिससे वह अचौर्याणुव्रत धारण नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त जनता में उसका व्यवहार बिगड़ जाता है। लोग उसे स्वार्थी, बेइमान, चोर आदि शब्दों से दुतकारते हैं। कभी तो ब्लैक मार्केट से जनता दुखी होकर उनकी हरकतों से ऊबकर दुकानदारों की इज्जत बिगाड़ देते हैं और दुकानें भी लूट लेते हैं।

राजकर्मचारी भी ब्लैक मार्केट करने वाले को जेल के सीकचों में बन्द कर देते हैं, असह जुर्माना कर देते हैं, लोहे की कड़ियां पहिना देते हैं और दुकानें भी बन्द करा देते हैं। तब वे अपनी हरकतों से बहुत पछताते हैं और यह कहावत चरितार्थ होती है कि—

चोर का माल चण्डाल खाय। पापी हाथ मलता रह जाय॥

पांच ब्रह्मचारियों के लक्षण

उपनय ब्रह्मचारी—जो यज्ञोपवीत धारण कर समस्त आगमों का अध्ययन करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो क्षुल्लक भेष में रहकर आगम का अभ्यास करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

अदीक्षा ब्रह्मचारी—जो बिना किसी भेष के समस्त आगम का अध्ययन करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

गूढ़ ब्रह्मचारी—जो कुमार मुनिवेश में रहकर विद्याभ्यास करते हैं और दुःसह परीषह, बन्धुजन की प्रेरणा या राजा की शासन-सत्ता आदि के कारण मुनिवेश छोड़ कर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं वे गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी—चोटी रखने वाले, भिक्षा से आजीविका करने वाले और देवपूजा में तत्पर रहने वाले व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

चार आश्रमों के लक्षण

ब्रह्मचारी—जो चोटी रखता है, सफेद वस्त्र पहिनता है, लंगोटी लगाता है, जिसका वेष विकाररहित है तथा व्रत के चिन्ह रूप सूत्र को धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

गृहस्थ—जो नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानों में स्थिर रहता है उसे गृहस्थ कहते हैं।

वानप्रस्थ—जिसने जिनरूप को धारण नहीं किया है, जो खण्डवस्त्र धारण करता है और जो निरतिशय तपश्चर्या में उद्यत होता है उसे वानप्रस्थ कहते हैं।

भिक्षु—जो जिनरूप को धारण करता है उसे भिक्षु कहते हैं।

मौन के स्थान

देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, मल-मूत्र क्षेपण, वमन, मैथुन, आत्मघात, स्नान और भोजन करते समय मौन रखना आवश्यक है। अर्थात् ये १२ मौन के स्थान हैं।

भोजन के अन्तराय

आर्द्रचर्मदर्शन, आर्द्रकीकशदर्शन, सुरादर्शन, मांसदर्शन, रक्तदर्शन, पूयदर्शन, रजस्वलास्पर्श, शुष्कचर्मस्पर्श, शुष्ककीकशदर्शन, शुनकादिस्पर्श, कर्कशशब्दश्रवण, विड्वरप्रायशब्दश्रवण, त्यक्तवस्तुभक्षण, जीवितजीवमिश्रितवस्तुभक्षण, बहुमृतजीवमिश्रितवस्तुभक्षण और मांसकल्पितवस्तुभक्षण ये सोलह भोजन के अन्तराय हैं।

व्रत और शील में अन्तर

सेवन करने योग्य पदार्थों का संकल्पपूर्वक त्याग करना तथा पाप कार्यों से हटकर शुभ कार्यों में प्रवृत्त होना व्रत कहलाता है। इस प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के त्याग करने को व्रत कहते हैं। तथा इन व्रतों की रक्षा के लिये जो तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत धारण किये जाते हैं उन्हें शील कहते हैं।

जिस प्रकार खेत के भीतर लगे हुये बीजों की रक्षा के लिये बाड़ी का उपयोग होता है उसी प्रकार व्रत और शीलों में रक्ष्य तथा रक्षक का अन्तर है।

विधवा विवाह की हेयता

अनूढा अर्थात् जिसका विवाह नहीं हुआ वह लड़की ही कन्या कहलाती है, परंतु जिसका विवाह हो जाता है वह लड़की अपने माता पिता की अपेक्षा भी कन्या नहीं कहलाती। विवाह हो चुकने पर उस लड़की को कन्या नहीं कहा जा सकता।

और "कन्यादानं विवाहः" अर्थात् किसी सुयोग्य वर के लिए कन्या का दे देना विवाह कहलाता है। इस प्रकार जब कि विधवा में कन्या का लक्षण घटित नहीं होता अर्थात् वह कन्या नहीं कही जा सकती, तब उसका किसी अविवाहित वर या पुरुष के लिए देना आदर्श या धर्मानुकूल नहीं कहा जा सकता। इसलिये विधवा विवाह कभी भी उचित या धार्मिक नहीं।

पाक्षिक और नैष्ठिक में अन्तर

जो सम्यग्दृष्टि होकर अष्टमूलगुणों का अतिचारसहित अभ्यास करता है तथा सप्त व्यसनों का अतिचारसहित त्याग करता है उसे पाक्षिकश्रावक कहते हैं। और जो सम्यग्दृष्टि होकर आठ मूलगुणों को निरतिचार धारण करता है उसे नैष्ठिकश्रावक कहते हैं।

१—पाक्षिक श्रावक व्रतों का अभ्यासमात्र करता है जबकि नैष्ठिकश्रावक व्रतों का निरतिचार पालन करता है। २—पाक्षिक श्रावक चतुर्थगुणस्थानवर्ती है और नैष्ठिकश्रावक पंचमगुणस्थानवर्ती है। ३—नैष्ठिकश्रावक के दर्शनिक आदिक ११ भेद होते हैं। पक्षिक का भेदान्तर नहीं होता। ४—पाक्षिकश्रावक की दूसरी संज्ञा प्रारब्ध और नैष्ठिक की दूसरी संज्ञा घटमान भी है।

* देव-पूजा *

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने दिने ॥

श्री "पद्मनन्दी" आचार्य ने गृहस्थ के छह कर्तव्यों का नामोल्लेख करते हुये उक्त पद्य द्वारा सर्व प्रथम देवपूजा का उल्लेख किया है। यहाँ देवशब्द उपलक्षण है, इसलिये उसके द्वारा शास्त्र तथा गुरु आदि का भी ग्रहण हो जाता है। अपने उपकार करने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रगट करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और समीचीन शास्त्र ने संसारसमुद्र से पार होने का मार्ग बताकर हमारा अनन्त उपकार किया है। इसलिये इनके प्रति कृतज्ञ होना हमारा परम कर्त्तव्य है।

पूजा के द्वारा गृहस्थ अपनी उसी कृतज्ञता को प्रगट करते हैं। वीतरागता का प्राप्त होना संसार से पार होने का अमोघ उपाय है और देवपूजा आदि से हमें उसी वीतरागता की प्राप्ति होती है।

चतुर्थ-काल में जिनेन्द्र भगवान यहाँ साक्षात् विहार करते थे। हजारों निर्ग्रन्थ गुरुओं का संचार होता था और उनके उपदेश रूपी शास्त्र जहाँ तहाँ सुनने को प्राप्त होते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश इस समय इस क्षेत्र में साक्षात् अरिहन्त देव का अभाव हो गया है, निर्ग्रन्थ गुरुओं की संख्या बहुत थोड़ी रह गई है और ऋषिपद्धति के शास्त्र भी कम हो रहे हैं। फिर भी वीतराग-प्रतिमा में अरिहन्त भगवान की कल्पना करके हम देवपूजा का साक्षात् पुण्य प्राप्त करते हैं।

"पंडित आशाधर जी" ने पाक्षिक-श्रावक का कर्त्तव्य बतलाते हुये लिखा है कि नित्यमहादिक पूजाओं के द्वारा अरिहन्त

की पूजा करने वाला व्यक्ति यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करे। क्योंकि प्रत्यक्ष पूजा का प्रभाव तो दूर रहे, संकल्पमात्र से भी अरिहन्त की पूजा करने वाला श्रावक राजगृह के मेंढ़क की तरह स्वर्ग में देव होता है। इस मेंढ़क की कथा जैनागम में प्रसिद्ध है, इसलिये यहाँ लिखना आवश्यक नहीं।

महापुराण के आधार से पंडित आशाधर जी ने अपने सागार धर्मामृत में पूजा के निम्नलिखित पाँच भेद किये हैं। १—नित्यमह, २—आष्टाह्निक, ३—महामह; ४—कल्पद्रुममह और इन्द्रध्वज। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

नित्महपूजा—प्रतिदिन अपने घर से लाये हुये जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन अष्ट-द्रव्यों के द्वारा घर के चैत्यालय अथवा नगर के मन्दिर में अरिहन्त भगवान की पूजा करना। अपनी शक्ति के अनुसार मंदिर आदि बनवाना। उनकी व्यवस्था के लिये भक्ति-पूर्वक ग्राम, घर तथा जमीन आदि का कानून के अनुसार दान देना। तीनों संध्याओं में अपने अपने घर अथवा चैत्यालय में अरिहन्त भगवान की उपसना करना तथा मुनियों के लिये आहार देना नित्यमह पूजा कहलाती है।

आष्टाह्निक पूजा—कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिन आष्टाह्निकपर्व तथा नन्दीश्वरपर्व के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दिनों में भव्यजीव नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में स्थित बावन जिनालयों की जो परोक्ष पूजा करते हैं उसे आष्टाह्निक पूजा कहते हैं।

राजा लोग अपने देश के ऊपर साम्राज्य पद प्राप्त करते समय जो जिनपूजा करते हैं वह महामह पूजा कहलाती है। इसके सर्वतोभद्र और चतुर्मुख ये नामान्तर भी हैं। यह पूजन सब

जीवों के कल्याण के लिये की जाती है इससे इसे "सर्वतोभद्र" कहते हैं। चतुर्मुख प्रतिबिम्ब विराजमान करके राजा लोग चारों ही दिशाओं में खड़े होकर करते हैं, इससे इसे चतुर्मुख कहते हैं। तथा आष्टाह्निकपूजन से यह पूजन बड़ी है, इसलिये इसका तीसरा नाम "महामह" है। इस प्रकार इसके तीनों नाम सार्थक हैं। जैसे चक्रवर्ती छह खण्डों पर विजय प्राप्त करके किमिच्छक दानपूर्वक कल्पद्रुम पूजन करते हैं, उसी प्रकार अपने देश पर साम्राज्य प्राप्त करते समय राजा लोग यह महामह पूजन करते हैं।

कल्पद्रुमपूजा—किमिच्छक अर्थात् मन चाहे दान के द्वारा सब जीवों की आशा पूर्ण कर चक्रवर्तियों के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं। इस पूजा में किमिच्छक दान देना पड़ता है और वह चक्रवर्तियों के द्वारा ही दिया जा सकता है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष से सबकी इच्छायें पूर्ण होती हैं, उसी प्रकार इस पूजा से सबकी इच्छा सम्पूर्ण होती है। इसलिये इस पूजा का कल्पद्रुम नाम सार्थक है।

इन्द्रध्वजपूजा—इन्द्र और प्रतीन्द्र आदि देवों के द्वारा जो जिन-पूजा की जाती है, उसे इन्द्रध्वज पूजा कहते हैं। पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा के समय गृहस्थ स्वयं इन्द्र तथा प्रतीन्द्र बनकर जो पूजा करते हैं, वह इसी इन्द्रध्वज पूजा में सम्मिलित है।

❋ दान ❋

दान की विशेषता—लोभ कषाय का अभाव होने पर निज और पर के उपकार की भावना से जो वस्तु दी जाती है, उसे दान कहते हैं। गृहस्थ के द्वारा पात्र, आगम की विधि, द्रव्य, देश और काल के अनुल्लंघन के लक्ष्य से अपनी शक्ति के अनुसार दान दिया जाना चाहिये।

दान का फल—प्रतिदिन नियम पूर्वक शास्त्र विधि से कुछ दान देने वाले अथवा तप तपने वाले जिनभक्त व्यक्ति के दूसरी पर्यायें अवश्य इन्द्रादिक पद विशिष्ट होती हैं।

दान का समय, प्रयोजन—जिस समय यहाँ भोगभूमि थी उस समय सब मनुष्य एक समान थे, मुनिधर्म का प्रचार नहीं था, सब लोगों की आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थीं। इसलिए उस समय दान देने की पद्धति नहीं थी। परन्तु जब से कर्मभूमि का प्रचार हुआ, तब से लोगों में भिन्नता होने लगी और मुनिमार्ग की स्थिति के हेतु दान की पद्धति प्रचलित हुई।

दान के भेद—दान चार प्रचार का होता है। आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान। इनका अभिप्राय इन शब्दों से ही स्पष्ट हो जाता है, इसलिये पृथक् पृथक् लिखने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार किसान योग्य जमीन देखकर बीज बोता है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी पात्र की योग्यता देखकर दान देना चाहिये।

पात्र के प्रकार—पात्र तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तमपात्र मुनि, मध्यमपात्र सम्यग्दृष्टि श्रावक, जघन्यपात्र अव्रती सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। जिन जीवों के मिथ्याचारित्र होता है, उन्हें कुपात्र कहते हैं और जिनके कुछ भी चारित्र नहीं होता, वे अपात्र कहलाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव पात्रदान देता है तो वह स्वर्ग जाता है। मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीव पात्रदान देता है तो वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्र को दान देने वाला नरक जाता है।

आहार आदि दान देकर जिन्होंने फल प्राप्त किया है। उन श्रीषेण राजा आदि की कथाएँ जिनागम में प्रसिद्ध हैं। मुनियों को आहार देते समय नवधाभक्ति पूर्वक दान दिया जाता है। अन्य श्रावकों को दान देते समय उनके योग्य आदर किया जाता है।

जैन मन्दिर की आवश्यकता

जैन मन्दिर में वीतराग भगवान की मूर्ति प्रतिष्ठित रहती है। उसके दर्शन करने से समस्त पाप दूर हो जाते हैं, पुण्यलाभ होता है और वीतरागिता की प्राप्ति होती है। तथा मनुष्य का चित्त आत्मकल्याण में अग्रसर होता है।

रात दिन गृहस्थी की झंझटों में फँसा रहने वाला मनुष्य जब घड़ी दो घड़ी के लिए मन्दिर में पहुँच जाता है, तब उसका हृदय शान्ति से भर जाता है। उसे ऐसा लगने लगता है कि जैसे मैं अग्निकुण्ड से निकलकर बर्फ के कुण्ड में जा पहुँचा होऊँ।

जहाँ जिन मन्दिर होता है वहाँ मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि धर्मात्माओं का आगमन होता रहता है। इन सब कारणों से गृहस्थों को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यह पञ्चमकाल है। इसमें आलम्बन के बिना उपयोग की स्थिरता बहुत पढ़े-लिखे लोगों को भी नहीं हो पाती। इसलिए गृहस्थ को चाहिये कि वहीं रहे, जहाँ पर जिनमन्दिर का साधन है। जहाँ जिन मन्दिर नहीं हो वहाँ भूलकर भी नहीं रहे।

मन्दिर क्यों बनवाना चाहिये

जहाँ जिन मंदिर होता है वहाँ पञ्चकल्याणक और प्रतिष्ठा आदि होते हैं। यात्रा को अनेक धर्मात्मा आते हैं। उनके धार्मिक आचरण देखकर आत्मा में अपार हर्ष होता है। उनके द्वारा पापों का समूह नष्ट होता है। मुनियों के आगमन से धर्म की परम्परा चलती है। इस तरह कलिकाल का प्रभाव कम हो जाता है। अतः जिनमन्दिर बनवाना आवश्यक है।

जैनधर्म श्रवण और धारण का अधिकार

सागारधर्मामृत—द्वितीय अध्याय के श्लोक नम्बर १६ में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को जैनधर्म सुनने का अधिकार बताया है और इसी अध्याय के श्लोक नम्बर २२ में वेशभूषा, आचार-विचार और शरीर की शुद्धि से युक्त शूद्र को जैनधर्म सुनने का अधिकार बताया है। इस प्रकार चारों वर्णों के मनुष्यों को जैनधर्म-सुनने का अधिकार जिनागम में बताया है।

इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जिनागमोपदिष्ट मुनिव्रत धारण कर सकता है। और स्पृश्य शूद्र व्यक्ति क्षुल्लक तक का व्रत धारण कर सकता है। इस प्रकार चारों वर्ण के व्यक्ति यथाशक्ति जैनधर्म का श्रवण और पालन कर सकते हैं। परन्तु वेश भूषा, आचार-विचार और शरीर की शुद्धि होना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

आत्मा अनन्त शक्ति का भण्डार है, परन्तु वे अनेक शक्तियां ब्रह्मचारी के ही होती हैं। जो ब्रह्मचर्य से रहित है उसकी आत्मा में किन्हीं भी उत्तम गुणों का विकाश नहीं हो पाता। जो निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उन्हें अनेक विद्याएँ और मंत्र आदि सिद्ध हो जाते हैं। देव भी उनके दास बन जाते हैं और व्याघ्रादि दुष्ट जीव उनका नाम लेते ही शान्त हो जाते हैं।

जो स्त्रीमात्र का त्याग कर देते हैं, वे पूर्ण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। और जो केवल परस्त्री का त्याग करते हैं, वे एकदेश ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

जिसमें पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन की शक्ति नहीं है वह एकदेश ब्रह्मचारी रहकर भी अपना जीवन सफल कर सकता है। सुदर्शन सेठ तथा सती सीता आदि का लोक में भी यश हुआ है। वह उनके एकदेश ब्रह्मचर्य के ही कारण हुआ था।

सागार और श्रावक में अन्तर

अनाद्यविद्यादोषोत्थ-चतुः संज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत् स्वज्ञानविमुखाः, सागाराः विषयोन्मुखाः ॥

जो अनादिकाल से चले आये अज्ञानरूपी दोषों से उत्पन्न होने वाली चार संज्ञाओं रूपी ज्वर से पीड़ित होने के कारण निरन्तर आत्मज्ञान से विमुख रहते हैं और पांचों इन्द्रियों के विषयों के सन्मुख हैं उन्हें सागार कहते हैं।

अनाद्यविद्यानुस्यूतां, ग्रन्थसंज्ञामपासितुम् ।
अपारयन्तः सागाराः, प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥

जो अनादिकाल से चली आई हुई अविद्या से सम्बन्ध रखने वाली परिग्रह संज्ञा को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं और प्रायः इन्द्रिय विषयों में मूर्च्छित हैं उन्हें सागार कहते हैं।

श्री पंडित आशाधर जी ने इन दोनों पद्यों द्वारा मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि गृहस्थ का वर्णन किया है। प्रथम श्लोक में जिसका वर्णन किया जाता है वह मिथ्यादृष्टि होने के कारण निरन्तर आत्मज्ञान से विमुख रहता है। वह परपदार्थों को सुखका कारण मान कर हमेशा पंचेन्द्रियों के विषय संग्रहीत करने में तत्पर रहता है।

द्वितीय श्लोक में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ का उल्लेख किया है। वह चारित्र मोह का उदय होने से यद्यपि परिग्रह का त्याग करने में असमर्थ रहता है, तो भी उन्हें अपना नहीं समझता। उसे आत्मज्ञान होता है, इसलिए वह विषयों को सुख का कारण नहीं मानता। फिर भी चारित्रमोह का उदय होने से जब कभी विषयों की ओर उसका झुकाव बना ही रहता है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए इस श्लोक में "प्रायो विषयमूर्च्छिताः" कहा है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षयोपशम हो जाने पर जब गृहस्थ श्रावक के व्रत धारण कर लेता है, तब वह श्रावक कहलाने लगता है। श्री पंडित आशाधर जी ने श्रावक का लक्षण निम्नप्रकार लिखा है।

मूलोत्तरगुणनिष्ठा-मधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो, ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्॥

जो मूलगुणों और उत्तरगुणों में निष्ठा रखता है, पंच परमेष्ठी के चरणों को शरण मानता है और ज्ञानरूपी अमृत के पान करने का इच्छुक रहता है वह श्रावक कहलाता है। इस प्रकार सागार और श्रावक में अव्रती तथा व्रती का अन्तर जान पड़ता है।

जिनपूजन के लिये स्नान की आवश्यकता

शंका—"यथा कथञ्चिद् भजताम्" इस श्लोक में 'यथा-कथञ्चित्' पद द्वारा किसी भी प्रकार (पवित्रपने या अपवित्रपने) से पूजा करने की प्रेरणा की गई है। परन्तु "स्नात्वाकण्ठ-मथाशिरः" इस श्लोक में स्नान से पवित्र होकर ही पूजन करने का विधान किया गया है। इस प्रकार एक ही पूजा के प्रकरण में एक ही उपदेशक ने परस्पर विरोधी कथन कैसे किया?

उत्तर—"यथा कथञ्चित् इत्यादि" श्लोक में 'यथाकथञ्चित्" पद का पवित्रपना या अपवित्रपना अर्थ नहीं है किन्तु अभिषेक, पूजन, स्तुति आदि अर्थ हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसे जैसे साधन मिलें वह यथाशक्ति अभिषेक से, पूजन से या केवल स्तुतिमात्र से जिनेन्द्र पूजन करे।

इसलिए इस श्लोक से अपवित्र शरीर से पूजन करना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। अतएव 'स्नात्वाकण्ठमथाशिरः'

इत्यादि श्लोक के कथन से 'यथाकथञ्चित्' श्लोक के कथन में कोई विरोध नहीं आता।

कन्यादान की उपादेयता

शङ्का—जब अन्य आचार्योंने कन्यादान निषिद्ध बतलाया है तब श्री पंडित आशाधरजी ने कन्यादान करने की प्रेरणा क्यों की?

समाधान—पंडित आशाधर जी का अभिप्राय है कि गृहस्थ का निर्वाह स्त्री के बिना नहीं हो सकता। स्त्री और पुरुष दोनों ही गृहस्थ धर्म की गाड़ी खींचते हैं। इसलिये गृहस्थी के दोनों अङ्ग सुरक्षित और सुदृढ़ होना आवश्यक हैं।

क्योंकि स्त्री के सन्तानोत्पत्ति होती है, जिससे जैन आचार विचार की परम्परा चलती है। मुनियों को आहारदान गृहस्थों से ही मिलता है। यदि सन्तान नहीं होगी तो धर्म परम्परा नहीं चल सकेगी। यही सब विचारकर श्री पंडित आशाधर जी ने कन्यादान का निरूपण किया है।

किन्तु जैन सिद्धान्त में कन्यादान हिन्दूधर्म की भांति मोक्ष का कारण नहीं माना जाता है। जो कन्यादान को स्वर्गादिक का कारण मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो निर्वाह का साधन समझकर अपने पुत्र पुत्रियों का आदान प्रदान करते हैं, उनका यह आचरण गृहस्थ धर्म के विरुद्ध नहीं है।

देवोपासना के प्रकार या अङ्ग

देवसेवा छह प्रकार की है। प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल। इनका संक्षिप्त वर्णन यह है।

अभिषेक की प्रतिज्ञा को प्रस्तावना, कहते हैं। जल, अग्नि; कुशा से सन्तर्पण और शुद्धि को पुराकर्म कहते हैं। भगवान

को अपने हृदय में विराजमान करना सन्निधापन कहलाता है। अष्ट द्रव्यों का समर्पण पूजा कहलाती है। दर्शन की विशुद्धि पूजा का फल है। ये पूजा के छह अङ्ग हैं।

पक्ष, चर्या और साधन का वर्णन

'मैं धर्म, अर्थ, देवता आदि किसी के लिये जीवों का वध नहीं करूँगा' इस प्रकार समस्त जीवों की हिंसा का त्याग करना तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनाओं के द्वारा परिणामों को निर्मल रखना पक्ष कहलाता है।

लगे हुये दोषों का प्रायश्चित लेकर आगामी काल के लिये त्याग तथा कुटुम्ब का भार पुत्र को सौंपकर घर से उदास हो धर्मधारण करना चर्या कहलाती है।

जीवन का अन्त उपस्थित होने पर अन्न तथा शरीर का त्याग कर निर्मल ध्यान के द्वारा आत्मा को शुद्ध करना साधन है।

जो श्रावक ऊपर लिखी तीन वृत्तियों का पालन करता है, वह क्रमशः पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक कहलाता है।

चार प्रकार के जैन

जैन के चार भेद हैं। नामजैन, स्थापनाजैन, द्रव्यजैन और भावजैन।

नामजैन—जो जैन समाज में तो उत्पन्न हुआ है किन्तु जैनत्व के कर्तव्यों का पालन नहीं करता।

स्थापनाजैन—जो पहले जैनेतर था किन्तु अब जैन बना लिया गया है।

द्रव्यजैन—जो पहले जैन था अब जैन नहीं है, जैनत्व छोड़ बैठा है। या जो अभी तो जैन नहीं है, किन्तु आगे जैन हो जावेगा, वा जैनत्व को अपनावेगा।

भावजैन—जो जैन कुल में पैदा होकर जैनत्व के कर्तव्यों का पालन करता है।

इनमें भावजैन होना परम सौभाग्य है अर्थात् भावजैनत्व को भाग्यशाली ही प्राप्त कर पाता है।

पाक्षिक श्रावक के गुणस्थान

पाक्षिक श्रावक के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय होता है, इसलिए वह अष्ट मूलगुण निरतिचार नहीं पालता है। अतः इसके चतुर्थगुणस्थान ही माना जाता है। जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो जाता है, तब वह प्रतिमाधारी हो पंचमगुणस्थानवर्ती हो जाता है। इस तरह पाक्षिक श्रावक चतुर्थगुणस्थानवर्ती और नैष्ठिक श्रावक पंचमगुणस्थानवर्ती कहलाता है। साधक श्रावक भी पंचमगुणस्थानवर्ती होता है।

प्रतिमाधारी के रात्रिभोजन त्याग का स्पष्टीकरण

मांस दोष की अपेक्षा दर्शनप्रतिमा में और त्रसहिंसा की अपेक्षा व्रतप्रतिमा में यद्यपि रात्रि में चारों प्रकारों के आहारों का अतिचार सहित त्याग हो जाता है। तथापि पुत्र पौत्रादि कुटुम्बी तथा सम्बन्धी या भृत्य आदि अन्यजनोंके निमित्तसे कृत, कारित, अनुमोदना संबन्धी जो भोजन के दोष आते थे उनके यथावत त्याग की प्रतिज्ञा यहाँ (षष्ठप्रतिमा) में होती है।

प्रतिमाधारी के सूतक का विचार

व्रतप्रतिमा से लेकर किसी भी प्रतिमा में गृहत्यागी होने पर उस व्यक्ति के कुटुम्ब सम्बन्धी हानि वृद्धि (जन्म मरण) का सूतक नहीं माना जाता। क्योंकि उसके कुटुम्ब-सम्बन्ध ही नहीं रहा।

जो प्रतिमाधारी गृहत्यागी नहीं है उसे अपने कुटुम्ब का सूतक यथावत् मानना आवश्यक है।

अन्यविवाहकरण अतिचार का स्पष्टीकरण

विवाह नहीं करने से कन्या और पुत्र स्वेच्छाचारी हो जावेंगे और शास्त्र तथा लोकव्यवहार में विरोध आवेगा। इस विचार से ब्रह्मचर्याणुव्रती को अपने पुत्र पुत्री का विवाह करना दोषजनक नहीं। परन्तु कोई योग्य भाई बन्धु वगैरह इनके विवाह का दायित्व अपने पर ले ले तो व्रती को अपने भी पुत्र पुत्री का विवाह नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि अपने पुत्र या पुत्री के अतिरिक्त अन्य के पुत्र पुत्री का विवाह कन्यादान के फल की इच्छा से या स्नेह सम्बन्ध से करना मैथुन का निमित्त होने के कारण परविवाह करण नामक अतिचार है।

इसी प्रकार एक स्त्री के रहते हुये भी विशेष सन्तोष के अभाव में अपना दूसरा विवाह कराना भी परविवाहकरण नामक अतिचार है।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का स्वरूप

त्यागभाव की वृद्धि होने से जब यह श्रावक अपने निमित्त बने हुये भोजन का भी त्याग कर देता है, तब वह उद्दिष्टत्याग-प्रतिमा का धारी श्रावक घर छोड़कर मुनियों के पास चला जाता है। और उन्हीं के सम्पर्क में रहकर अपने व्रत का पालन करता है। इसके दो भेद हैं। ऐलक और क्षुल्लक।

जो केवल एक लँगोटी ही रखता है उसे ऐलक कहते हैं। तथा जो लँगोटी के सिवाय एक छोटी चद्दर भी रखता है वह क्षुल्लक कहलाता है।

ऐलक और क्षुल्लक दोनों ही भिक्षाभोजन ग्रहण करते हैं। ऐलक बैठकर मुनियों के समान हाथरूपी पात्र में ही भोजन ग्रहण करते हैं, और क्षुल्लक पात्र में रखकर बैठकर भोजन करते हैं। ऐलक मुनियों के समान पिछी और कमण्डलु रखते हैं और क्षुल्लक पिछी के बदले एक वस्त्रका खण्ड रखते हैं। परन्तु आजकल क्षुल्लक भी पिछी रखने लगे हैं।

क्षुल्लक दो प्रकार के होते हैं। एकभिक्ष और अनेकभिक्ष। जो अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा भोजन प्राप्त कर किसी एक स्थान पर बैठकर भोजन करते हैं उन्हें अनेकभिक्ष क्षुल्लक कहते हैं। अनेकभिक्ष-क्षुल्लक अपने पास एक पात्र भी रखते हैं।

मध्याह्न की सामायिक के पूर्व अथवा बाद में ये आहार को निकलते हैं। श्रावक के घर के सामने पहुँच कर किसी प्रकार की दीनता नहीं दिखाते हैंऔर न कुछ याचना ही करते हैं। 'धर्म-लाभ हो' इतना ही कह कर बिजली की चमक के समान वहाँ थोड़ी देर खड़े रहते हैं। आहार न मिलने पर किसी दूसरी जगह चले जाते हैं। भिक्षा में अच्छा बुरा जैसा कुछ भी आहार मिलता है, उसे समताभाव से ग्रहण करते हैं। यदि किसी अगले घर में श्रावक यह कहे कि 'महाराज यहाँ ही पूर्ण भोजन कर लीजिये' तो क्षुल्लक पिछले घरों से प्राप्त किया भोजन कर चुकने के बाद; उसके यहाँ नया भोजन ग्रहण करते हैं। क्षुल्लक अपने भोजन का वर्तन अपने हाथ से ही साफ करते हैं।

जिन गृहस्थों में चौका की क्रिया नहीं होती है। अधिकांश वे ही क्षुल्लक अनेकभिक्षक हुआ करते हैं। परन्तु जिसके चौके की क्रिया रहती हैं वे एकभिक्ष ही होते हैं।

क्षुल्लक का व्रत शूद्र भी धारण कर सकता है। यह अपनी पहिचान के लिए एक लोहे का भिक्षापात्र लिये रहता है।

परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष में विशेषता

इस व्रत के दो नाम हैं। परदारनिवृत्ति और स्वदार-सन्तोष। परस्त्री का त्याग करना परदारनिवृत्ति कहलाता है और अपनी स्त्री में सन्तोष रखना स्वदारसन्तोष कहलाता है।

यद्यपि इन दोनों नामों में ऊपर से कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर इनमें अन्तर है।

जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह होता है ऐसी स्वदार को छोड़कर अन्य स्त्रियों में जिसकी दृष्टि नहीं जाती वह स्वदार सन्तोषी कहलाता है।

वेश्या 'धन की स्त्री' कहलाती है। पैसा देकर वेश्या से सम्बन्ध रखने वाले व्रती पुरुष की कदाचित् किसी क्षेत्र में वेश्यासेवन में प्रवृत्ति हो जाती है और इसके होने पर भी वह ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी रह सकता है।

प्रश्न—वेश्याव्यसन के अतिचारों का वर्णन करते हुये जब वेश्या के घर आने जाने का भी त्याग कराया है तब दूसरी प्रतिमामें ब्रह्मचर्याणुव्रती केलिए वेश्या-सेवनकी छूट कैसे दी गई ?

उत्तर—पात्रभेद के अनुसार व्रत के पालन में कहीं कहीं विशेषता हो जाती है। जो नैष्ठिक श्रावक वेश्यासेवन में कभी भी प्रवृत्त नहीं होता, वह स्वदारसन्तोषी कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य कर पहली प्रतिमा में वेश्या के घर आने जाने का त्याग कराया है।

जो नैष्ठिक बहुत समय तक परदेश में रहता है और स्वदारसन्तोषी पुरुष के समान निर्दोष ब्रह्मचर्याणुव्रत पालन करने में असमर्थ होता है, ऐसे अभ्यासोन्मुख श्रावक के लिए परदारनिवृत्ति का वर्णन किया गया है।

मुद्रक—शुभचिन्तक प्रेस, [illegible]पुर, जबलपुर।